प्रवचन - सारांश

सत्यनारायण गोयन्का

Kishin Butani

प्रवचन - सारांश

[विपश्यी साधकों के लाभार्थ]

सत्यनारायण गोयन्का

१९९५

विपश्यना विशोधन विन्यास

इगतपुरी

प्रथम आवृत्ति : १९९२
द्वितीय आवृत्ति : १९९५

मूल्यः २५/-

ISBN 81-7414-019-0

मुद्रक : अपोलो प्रिंटर्स,
३१३, जोगबनी एस्टेट, जे. आर. बोरिचा मार्ग,
कस्तूरबा अस्पताल के सामने, लोअर परेल,
मुंबई-४०००११.

प्रकाशकः विपश्यना विशोधन विन्यास
धम्मगिरि, इगतपुरी-४२२४०३, जिला-नाशिक, (महाराष्ट्र)
फोनः [०२५३३] ४०७६, ४०८६,
फैक्सः ९१-०२५३३-४१७६.

अनुक्रमणिका

लेखक-परिचय

श्री सत्यनारायण गोयन्का का जन्म ब्रह्मदेश के मांडले नामक नगर में सन १९२४ में हुआ। अपने बुद्धि-कौशल तथा अध्यवसाय से उन्होंने औद्योगिक क्षेत्र में उत्तरोत्तर उन्नति की और वहां के विख्यात उद्योगपतियों में उनकी गणना होने लगी।

श्री सत्यनारायणजी की रुचि बड़ी व्यापक थी। आरंभ से ही साहित्य, संस्कृति, अध्यात्म, कला और समाज-सेवा में उनकी अभिरुचि थी। इन सभी क्षेत्रों में उन्होंने अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया।

ब्रह्मदेश के महालेखापाल सयाजी ऊ बा खिन द्वारा प्रचारित-प्रसारित विपश्यना-साधना की ओर १९५५ में वे अपनी अस्वस्थता के कारण आकृष्ट हुए। इससे उन्हें विशेष लाभ हुआ। फिर तो उन्होंने न केवल उस साधना के मूल्य को समझा, बल्कि उसकी गहराइयों में डुबकी लगाई। इसका उनके जीवन पर आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा।

सन १९६९ में वे भारत आये। अपने शरीर-त्याग से पूर्व सयाजी ऊ बा खिन ने उन्हें उस भागवती विद्या को जन-जन तक पहुँचाने के लिए आह्वान किया और आचार्य का पद सौंपा। व्यवसाय से पूर्णतया अवकाश ग्रहण कर सत्यनारायणजी ने अपने शेष जीवन को इसी लोकोपयोगी कार्य के लिए समर्पित कर दिया। तब से विपश्यना-शिविरों का क्रम लगातार चल रहा है। भारत तथा अन्य देशों में कई स्थायी केंद्र स्थापित किये गए हैं और किये जा रहे हैं। अनेक सहायक आचार्य इस कल्याणकारी प्रवृत्ति में उनका हाथ बँटा रहे हैं। लाखों साधकों ने इस धर्म-धारा में अवगाहन करके अपने जीवन में धन्यता अनुभव की है, आज भी कर रहे हैं।

अधिकांश शिविर स्थायी केंद्रों में ही संचालित होते हैं। बिना किसी जात-पांत, धर्म-संप्रदाय, विश्वास आदि के भेदभाव के कोई भी जिज्ञासु व्यक्ति उनमें सम्मिलित हो सकता है। वहां साधकों के निवास और भोजनादि की समुचित व्यवस्था है।

प्रकाशकीय

कुछ वर्ष पूर्व **शिविर-प्रवचनों** को 'विपश्यना' पत्रिका में क्रमशः प्रकाशित किया गया था, जिसे साधकों ने बहुत पसंद किया और इन्हें दैनिक साधना के लिए बहुत उपयोगी समझकर पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने की मांग करने लगे। अतः पूज्य गुरुजी की अनुमति से इन्हें 'आत्म दर्शन' पुस्तक में प्रकाशित किया गया। साधकों की बढ़ती हुई मांग को देखते हुए 'विपश्यना विशोधन विन्यास' ने यह निर्णय किया कि इन्हें अलग से प्रकाशित किया जाय, ताकि अधिक से अधिक साधकों को उपलब्ध हो सके और उन्हें धर्मपथ पर आगे बढ़ने के लिए अधिक प्रेरणादायक बने।

विश्वास है इस पुस्तक से साधकों के अतिरिक्त अन्य पाठकों को भी शिविर में सम्मिलित होने की प्रेरणा मिलेगी और वे धर्म के व्यहारिक पक्ष का स्वानुभूति के स्तर पर लाभ प्राप्त कर सकेंगे।

प्रकाशन समिति,
विपश्यना विशोधन विन्यास

दो शब्द

कल्याणमित्र श्री सत्यनारायणजी गोयन्का भारत तथा विदेशों में अनेक वर्षों से विपश्यना-साधना का प्रशिक्षण दे रहे हैं। अबतक कई सौ शिविरों के आयोजन हो चुके हैं। ये शिविर ग्यारह दिन के होते हैं और इनमें प्रति दिन शाम को प्रवचन दिये जाते हैं, जिनसे साधकों को मार्गदर्शन और विधि के बारे में स्पष्टीकरण होता है। इन ग्यारह प्रवचनों का संक्षिप्त संग्रह इस पुस्तक में है।

शिविर में सम्मिलित होकर जिन-जिन साधकों ने इन प्रवचनों को सुना है, वे अच्छी तरह जानते हैं कि इन्हें सुनते समय कितनी तल्लीनता आती है। मैं इन प्रवचनों को तीन शिविरों में तीन बार सुन चुका हूं। उनकी गूंज आज भी मेरे मन में झंकार पैदा करती है। अत्यंत सरल और अंतःकरण को छू लेने वाले इन प्रवचनों में सांप्रदायिक भाव लेशमात्र भी नहीं है।

भगवान बुद्ध ने उन दिनों प्रचलित अनेक ध्यान-विधियों को अपनाकर देखा, पर संतोष नहीं हुआ। अन्ततः जिस विधि की स्वतः खोजकर अभ्यास करते हुए निर्वाण प्राप्त किया, वह विपश्यना ध्यान-पद्धति है। इसकी विशेषता यह है कि यह उन सभी ध्यान-विधियों से सरलतम और बांछित फल देने वाली है। इसका बौद्ध संप्रदाय से कोई लेन-देन नहीं है, इसलिए यह सभी संप्रदायों के लोगों के अनुकूल पड़ती है।

इस विधि में कोई बाहरी आलंबन नहीं लिया जाता, बल्कि ऐसे आलंबन के सहारे मन टिकाया जाता है, जो सबके लिए समान रूप से मान्य और सुलभ है। अपना खुद का श्वास, अपना शरीर और

अपने शरीर पर होने वाली संवेदनाएं सबके लिए समान रूप से सुलभ आलंबन हैं।

किसी भी नाम या मंत्र का जाप नहीं, किसी भी शब्द या वस्तु का सहारा नहीं। इसका सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि अपना मन किसी बाहरी आलंबन में उलझे बिना स्वयं की सांस, शरीर और शरीर की संवेदनाओं के आधार पर एकाग्र होता है, जिनका कि हमारे मन के विकारों के साथ गहरा संबंध है। ऐसी एकाग्रता प्राप्त होने पर हम वर्तमान में जीना सीखते हैं और संवेदनाओं के प्रति राग-द्वेष न जगाकर मात्र द्रष्टाभाव से देखने का प्रयास करते हैं। सामान्य रूप से संवेदना होते ही हम अपने राग या द्वेष के संस्कारों को बढ़ावा देते हैं, परंतु इस विधि के अभ्यास द्वारा सजग, सचेत होकर जब उन्हें द्रष्टाभाव से देखते हैं तो राग या द्वेष नहीं बनते और तब पुराने संग्रहीत राग, द्वेष और मोह के संस्कार उभरकर आते हैं और नष्ट होते हैं। इस प्रकार निर्वाण प्राप्त करने की यह प्रक्रिया विपश्यना-साधना से सहजभाव से सीखी जा सकती है, परंतु इसे मात्र पढ़कर कोई व्यक्ति स्वयं का शिक्षक नहीं बन सकता। इसके लिए एक बार किसी शिविर में जाकर विधिवत अभ्यास करना नितांत आवश्यक है। इन प्रवचनों को छापने की स्वीकृति देकर श्री गोयन्काजी ने साधकों को धन्य किया है।

शिविर में शामिल होने के लिए पुस्तक के अन्त में दी गयी केंद्र-तालिका में से किसी साधना केंद्र से सीधे संपर्क करना चाहिए।

दलसुख मालवाणिया,
अहमदाबाद

पहला दिन

आज हमारी साधना का पहला दिन पूरा हुआ। पहला दिन थोड़ा कठिनाइयों का होता है। एक छोटा-सा कारण, शिविर की व्यवस्था से संबंधित है। नए-नए साधकों को शिविर की व्यवस्था में कई असुविधाएं अनुभव होती हैं। केवल रहन-सहन की ही नहीं बल्कि शरीर ने भी अपना स्वभाव बना लिया है, और मन ने भी। अपने स्वभाव के बाहर निकलना न शरीर को पसंद है, न मन को। अतः शरीर और मन दोनों विद्रोह करने लगते हैं।

मन में कई शंकाएं पैदा होती हैं। कोई साधक किसी अमुक साधना या ध्यान का अभ्यासी है तो मन में विचार आता है कि यहां मैं क्या कर रहा हूं? कहीं कोई धर्म-विरोधी कार्य तो नहीं कर रहा? इत्यादि।

प्रत्येक साधक को यह खूब समझ लेना चाहिए कि इस साधना में कहीं भी अंध-विश्वास या कल्पना को स्थान नहीं है। सारा-का-सारा बोधि का मार्ग है, सत्य का मार्ग है, ज्ञान का मार्ग है, स्वयं तपने का मार्ग है, पुरुषार्थ का मार्ग है।

परंतु हर शाम को जो धर्म-चर्चा होगी, वह साधना-मार्ग का स्पष्टीकरण करने तथा साधना-विधि को समझाने के लिए। पहले तो हम यह समझेंगे कि इस साधना का लक्ष्य क्या है? साधना का लक्ष्य चित्त को पूर्ण रूप से निर्मल करना है, शुद्ध करना है। इसका पहला कदम चित्त को एकाग्र करना है। लक्ष्य की ओर जाने की यह पहली सीढ़ी है। इस साधना के द्वारा हम सुख तथा शांतिपूर्वक जीवन जीने की कला सीखेंगे।

हम अनुभव करते हैं कि हमारे जीवन में कितना तनाव है, खिंचाव है, बेचैनी है, अशांति है, व्याकुलता है। हमारे पास सब साधन हों, संपत्ति हो, तो भी हम दुखी रहते हैं। इनका अभाव है तो दुखी हैं ही। मन का यह रोग सार्वजनीन है, सार्वकालिक है, सार्वदेशिक है।

यदि हम मन के इस रोग का कारण जान लें तो इसे दूर अवश्य कर सकेंगे। रोग का कारण मन के विकार हैं। यदि हमारा मन इन विकारों से मुक्त हो जाय, शुद्ध हो जाय, निर्मल हो जाय तो हम दुख से, अशांति से, बेचैनी से अपने आप दूर हो जाएंगे। चित्त के निर्मल होने पर किसी के प्रति ईर्ष्या या द्वेष नहीं जागेगा। निर्मल चित्त प्यार से, करुणा से, मुदिता से, समता से भर-भर उठेगा। हमारा मन सदा संतुलित रहेगा। यही कल्याण का मार्ग है।

इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए हमने सांस को देखना शुरू किया। किस प्रकार हमारी सांस आ रही है, जा रही है। केवल यही देखना शुरू किया। इसके साथ किसी नाम, मंत्र या रूप को नहीं जोड़ा। इस साधना का संबंध किसी संप्रदाय या मान्यता से नहीं है। यदि हम किसी नाम, मंत्र या रूप को जोड़ देते तो उससे संबंधित संप्रदाय से बँध जाते। तब यह अभ्यास सब के लिए ग्राह्य तथा स्वीकार करने योग्य नहीं होता। सार्वजनीन रोग के लिए सार्वजनीन इलाज की ही आवश्यकता है। हमने इसीलिए शुद्ध सांस का सहारा लिया।

एक और बड़ा कारण है। हमारे सांस का हमारे विकारों से गहरा संबंध है। जब-जब मन में क्रोध जागे, भय जागे, वासना जागे, हमारे सांस की गति तेज हो जायेगी। जैसे ही विकार दूर हो जायेगा, सांस फिर अपने आप धीमी और अपनी साधारण गति से चलने लगेगी। सांस को देखते-देखते हम अपने विकारों को देख सकेंगे। ज्योंही हमने विकारों को देखना शुरू किया, चित्त की सफाई का काम शुरू हो गया। विकारों को जानने के लिए सांस का माध्यम अत्यंत महत्व का है। इसके साथ यदि हम किसी नाम, मंत्र या रूप को जोड़ देते तो सांस अपनी जगह रह जाती और मन उस शब्द की गूंज में, उसका बार-बार

उच्चारण करने में या उस रूप की कल्पना में डूब जाता। मन एकाग्र तो हो जाता, शांति भी मिलती, लेकिन हम अपने विकारों तक नहीं पहुँच पाते। यदि हमें अपने विकारों को देखना है, मन की अंतरतम गहराइयों तक पहुँचना है, जहां हमारे विकार एकत्र हैं, संग्रहीत हैं, तो हमें बीच में कोई दीवार नहीं खड़ी करनी है। विकारों से सीधा संपर्क आवश्यक है। इसीलिए हमने शुद्ध सांस का सहारा लिया, ताकि विकारों को दूर कर सकें।

मनुष्य ने जबसे जन्म लिया है, आंख खोलकर बाहरी दुनिया को ही देखा है। सदैव बहिर्मुखी-ही-बहिर्मुखी। कभी अंतर्मुखी होकर अपने को देखा ही नहीं। यह सारा शरीर-प्रपंच जिसे, मैं-मैं, मेरा-मेरा कहे जा रहा हूं, यह सारा मानसिक प्रपंच, जिसे मैं-मैं, मेरा-मेरा कहे जा रहा हूं– यह सब क्या है ? अपने शरीर के बारे में, मन के बारे में बौद्धिक स्तर पर खूब जानकारी होगी। लेकिन अनुभूतियों के स्तर पर कुछ भी ज्ञान नहीं है। अनुभूतियों के द्वारा यह भी नहीं जाना कि शरीर और चित्त के परे भी कोई अवस्था है।

सत्य की खोज में निकलने वाला साधक किसी कल्पना को स्थान नहीं देगा। यह जो हमने सांस का सहारा लिया और इसके साथ किसी कल्पना को जोड़ने नहीं दिया, इसका मुख्य कारण यही है कि हम सच्चाई को जान रहे हैं– मैं सांस ले रहा हूं। भले ही यह एक मोटा सत्य है, पर है सत्य। कोई कल्पना नहीं।

हम अपने शरीर और मन के प्रपंच को देखेंगे। खूब देखेंगे। हमारे विभिन्न बाहरी अंग– हाथ, पैर आंख आदि हमारी इच्छा के अनुसार काम करते हैं, लेकिन शरीर के भीतर के जो अंग हैं– फेफड़े, हृदय आदि हमारे आदेश का इंतजार नहीं करते। निरंतर प्रकृति के नियम के अनुसार काम करते रहते हैं। इसके अतिरिक्त हमारा सारा शरीर जो नन्हें-नन्हें परमाणुओं से, जीव-कोषों से बना है, उनमें कुछ-न-कुछ खटपट होती ही रहती है। समग्र शरीर-पिंड में कुछ-न-कुछ

जीवरासायनिक प्रतिक्रिया, विद्युत चुंबकीय प्रतिक्रिया, निरंतर होती रहती है। यह सच्चाई अनुभूति से जानेंगे।

शरीर के बारे में सुना है, शास्त्रों में पढ़ा है कि यह नश्वर है, भंगुर है। मन के बारे में भी सुना है कि यह चंचल है, चपल है। लेकिन अनुभूति के स्तर पर यह बात नहीं जानी। इसीलिए शरीर और मन के प्रति बड़ी आसक्ति है। यह आसक्ति केवल बौद्धिक-स्तर की जानकारी से टूटने वाली नहीं है। इसलिए हमारे यहां सत्य के साक्षात्कार को इतना महत्व दिया गया। सत्य को ही ईश्वर माना गया।

सत्य का साक्षात्कार स्थूल से ही आरंभ होता है और सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतर-से-सूक्ष्मतम होता हुआ परम सत्य तक पहुँच जाता है। यदि हमें परम सत्य का साक्षात्कार करना है, जो अवस्था इंद्रियातीत है, भवातीत है, लोकातीत है, वहां तक पहुँचना है, तो हमें इंद्रिय जगत के क्षेत्र की स्वयं यात्रा करके अनुभूतियों के क्षेत्र से गुजरना ही पड़ेगा।

आज दिन भर अभ्यास करते-करते एक बात बड़ी स्पष्ट हो गई। मन की चंचलता के बारे में खूब सुना था, पढ़ा था। अब अनुभव हो गया कि मन एक क्षण भी नहीं टिकता। मन की चंचलता के साथ एक और बात स्पष्ट हुई कि या तो यह भूतकाल की याद में भागता है अथवा भविष्य की कल्पना की ओर। एक क्षण भी वर्तमान में नहीं रहना चाहता। मन की इस प्रकार की गति इसका स्वभाव बन गई है। जीवन भर हम या तो भूतकाल की सुखद या दुखद स्मृतियों में अथवा भविष्य की सुखद या दुखद कल्पनाओं में खोये रहते हैं। इसी से असंतुष्ट, असंतुलित और बेचैन रहते हैं।

साधना के अभ्यास द्वारा आरंभ हुआ वर्तमान में जीने का कार्य। मन को सिखाने लगे कि देख इस सांस को – जो आ रही है या जा रही है। यह इस क्षण की घटना, इस क्षण की सच्चाई है। मन को सिखाने लगे कि भूतकाल की स्मृतियों और भविष्य की आकांक्षाओं से हटकर वर्तमान में रहना सीख। ज्योंही वर्तमान में रहना

आने लगेगा, बहुत-से रहस्य सामने आएंगे। जैसे-जैसे हम स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलेंगे, ज्ञात से अज्ञात को भी जानने लगेंगे। इस प्रयत्न में सांस एक कड़ी का काम करेगी, एक पुल का काम करेगी।

मन के बारे में एक बात और सामने आई कि मन कभी एक बात पर नहीं टिकता। कभी एक बात तो कभी दूसरी बात, सो भी ऐसी बातें जिनका कोई तारतम्य नहीं, तालमेल ही नहीं! केवल उलझन-ही-उलझन है, मानो होश ही नहीं है।

इस प्रकार मन का एक और रहस्य स्पष्ट होने लगा। जब कभी मन सुखद स्मृति की कल्पना में डूबा रहता है तो बड़ी चाह रहती है कि वह स्मृति कायम रहे, वह स्थिति पुनः प्राप्त हो। इसी प्रकार दुखद कल्पना और दुखद स्थिति को हमेशा टालने की चाह रहती है। ये राग, द्वेष और मोह-मूढ़ता [बेहोशी] की स्थितियां बनी ही रहती हैं। कहां शांति है ? कहां सुख है जीवन में ? हमारे मन के सारे-के-सारे विकारों की जननी ये तीनों अवस्थाएं हैं– राग, द्वेष और मोह की।

यह सारा अभ्यास हमें चित्त की निर्मलता की ओर ले जाने वाला है। इसमें पहला कदम चित्त को एकाग्र करने का है। यह कदम भी थोड़ा-बहुत मैल उतारने वाला होना ही चाहिए।

कैसे ? हम केवल सांस को देख रहे हैं, जान रहे हैं, तो हमारा संबंध भूतकाल की स्मृतियों और भविष्य की कल्पनाओं से टूट रहा है। एक तरह से राग और द्वेष से टूट रहा है। यथाभूत सांस को देखने में कहां राग पैदा होगा ? कहां द्वेष पैदा होगा ? जो सांस अपने स्वभाव से चल रही है उसे शांति से, दृढ़ता से, देख रहे हैं। उस क्षण हम मोह से भी दूर हैं, क्योंकि किसी कल्पना में नहीं उलझ रहे। दिन भर के अभ्यास में कुछ क्षण ऐसे आते ही हैं, जब हम केवल सांस को देख रहे हैं। ये क्षण बड़े महत्व के हैं। उस क्षण का चित्त निर्मल हुआ।

इसी प्रकार एक और रहस्य प्रकट होता है। जब हमारे अंतरतम में संग्रहीत विकार-समूह से निर्मल चित्त का संपर्क होता है तो बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया 'होती है। एक तूफान-सा उठता है,

ज्वालामुखी-सा फूटता है। मन और शरीर का गहरा संबंध है। अतः यह प्रतिक्रिया शरीर में प्रकट होती है। किसी का पांव टूटने लगता है तो किसी की कमर फटने लगती है। किसी का सिर चकराता है तो किसी का जी घबराता है। किसी का भाग जाने का मन करता है तो किसी को नींद ही आने लगती है।

यह सब क्यों होता है ? हमारा अभ्यास चित्त को अपने स्वभाव से पलटने का प्रयास है। यह प्रतिक्रिया इस प्रयास के विरुद्ध होती है। इन पीड़ाओं का बड़ा कारण मन की विपरीत प्रतिक्रिया का शरीर पर प्रकटीकरण है। जैसे-जैसे हम अपने अभ्यास में पुष्ट होते जाएंगे, ये प्रतिक्रियाएं कम होने लगेंगी। धीरे-धीरे हमने अपने मन में जो विकार इकट्ठे कर रखे हैं, उनका शमन होने लगेगा। उन्हें धोते चले जाएंगे, साफ करते चले जाएंगे। यदि हम दृढ़ता के साथ साधना में लगे रहेंगे तो इन प्रतिक्रियाओं को जड़ से उखाड़ देंगे। चित्त स्वभाव से निर्मल हो जाएगा। हमें जीना आ जाएगा। सुख से जियेंगे, शांति से जियेंगें। हम अपने भीतर शांति का अनुभव करेंगे और जिन लोगों के साथ हमारा संपर्क होगा, उन्हें भी शांत और सुखी करेंगे।

इस अभ्यास में हमारे सामने कुछ कठिनाइयां आती हैं, उनसे सजग रहेंगे।

दस दिन तक इस साधना का अभ्यास करते हुए किसी अन्य साधना या अभ्यास को इसके साथ नहीं जोड़ेंगे। ऐसा होने पर बड़ी हानि होने की आशंका है। भोजन में संयम रखना भी अत्यंत आवश्यक है। जितना भोजन एक बार में हम करने के अभ्यस्त हैं, यहां उससे भी कम भोजन करेंगे। इससे साधना अच्छी हो पायेगी। इसी प्रकार प्रमाद से दूर रहेंगे। शारीरिक थकान को कम करने के लिए भले हम एक बार में पांच मिनट लेटकर भी अभ्यास कर लें, लेकिन ऐसे न लेटें कि नींद ही आने लगे। एक अन्य कठिनाई, खासकर हम भारतीय साधकों की है। हमें बात करने का बड़ा शौक है। मौन व्रत रखते हुए

भी बात करने की बड़ी चाह रहती है। साधना की सफलता के लिए मौन, पूर्ण मौन, आर्य मौन रखना नितांत आवश्यक है।

साधना प्रारंभ करने के पहले पंचशील पालन करने का व्रत लिया। यह कोई कर्मकांड पूरा करने के लिए नहीं है। इस व्रत का कड़ाई से पालन करना है। ये शील हमारी साधना की आधार-शिलाएं हैं। हमें शील को पुष्ट करना है। शील का दृढ़ता तथा निष्ठा से पालन हमें सम्यक एकाग्रता यानी सम्यक समाधि प्राप्त करने और प्रज्ञा को जगाने में सहायक होगा। इससे चित्त के विकार निकलने शुरू होंगे और निर्मलता आने लगेगी।

आओ लोगो जगत के, चलें धर्म के पंथ।
इस पथ चलते ज्ञानिजन, इस पथ चलते संत॥

धर्म-पंथ ही शान्ति पथ, धर्म-पंथ सुख पंथ।
धर्म-पंथ पर जो चले, मंगल जगे अनंत॥

आओ मानव मानवी, चलें धर्म के पंथ।
कदम-कदम चलते हुए, करें दुखों का अंत॥

आते-जाते सांस का, रहे निरंतर ध्यान।
मन सुधरे मंगल सधे, होय परम कल्याण॥

धर्म-धर्म तो सब कहें, धर्म न समझे कोय।
निर्मल मन का आचरण, सत्य धर्म है सोय॥

धर्म न हिन्दू बौद्ध है, सिक्ख न मुसलिम जैन।
धर्म चित्त की शुद्धता, धर्म शांति सुख चैन॥

दूसरा दिन

हमारी साधना का दूसरा दिन पूरा हुआ। कठिनाइयों की दृष्टि से दूसरा दिन पहले दिन से जरा अच्छा, लेकिन कठिनाइयां तो हैं ही। इनका सामना करना होगा। साधना की सफलता के लिए दो बातों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। एक तो यह कि जैसे बताया जाय, ठीक वैसे ही काम करें। अपनी ओर से न कुछ जोड़ें, न तोड़ें। दूसरे, खूब धीरज से काम करें– उतावलेपन से नहीं, व्यग्र होकर नहीं, उत्कंठित होकर नहीं। मन का स्वभाव बहुत चंचल हो गया है। जब यह मालूम हो जाय कि मन भाग गया है, भटक गया है तो इसकी वजह से व्यग्र न हों, निराश न हों। इस सच्चाई को मुस्करा कर स्वीकार करें। मन तुरंत वापस लौट आयेगा। मन को वापस लाने में तनाव नहीं पैदा करना है। केवल जानना है। इस क्षण की सच्चाई को जानते रहना है। बस, यही पर्याप्त है। बराबर काम में लगे रहें। प्रमाद न हो।

यदि धीरज से काम करते रहेंगे तो लक्ष्य तक पहुँच ही जाएंगे। अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए स्वयं प्रयत्न करना है, परिश्रम करना है। स्वयं पुरुषार्थ करना है, पराक्रम करना है।

आज हम मोटे तौर पर यह समझ लें कि जिस रास्ते पर चल रहे हैं, वह रास्ता क्या है ? भगवान बुद्ध के जीवनकाल की एक घटना है। एक बुढ़ियामाई भगवान बुद्ध के पास आयी। उसने पूछा, महाराज ! मुझे धर्म-मार्ग ऐसी सरल भाषा में समझाएं, जिसे मैं समझूं और उस पर चल सकूं। भगवान ने उस समय की जन भाषा में समझायाः–

'सब्ब पापस्स अकरणं, कुसलस्स उप सम्पदा।
सचित्तपरियोदपनं, एतं बुद्धानसासनं' ॥

– सभी प्रकार के पापों को न करना, कुशल कर्मों का संपादन करना, अपने चित्त को निर्मल करना – यही समस्त बुद्धों की शिक्षा है।

पाप कर्म क्या होते हैं ? और कुशल कर्म क्या होते हैं ? अपनी वाणी या शरीर से दूसरे प्राणियों की हानि करना ही पाप है। जिस कर्म से दूसरों को सुख पहुँचता हो, शांति मिलती हो, उनका मंगल होता हो, वही पुण्य है, वही कुशल कर्म है। जो कर्म दूसरों को हानि पहुँचाए, उससे बचें और जो दूसरों को लाभ पहुँचाए, वही करें। औरों को हानि पहुँचाने वाला कर्म स्वयं की भी हानि करता है। औरों को लाभ पहुँचाने वाला कर्म स्वयं को भी लाभ पहुँचाता है। यह कुदरत का नियम है, विश्व का विधान है। जैसा बीज बोयेंगे, वैसा ही फल आयेगा। प्रकृति के इस कानून को समझकर इसके अनुसार चलना ही धर्म है।

भगवान बुद्ध ने तीसरी बात चित्त को निर्मल करने की कही। ज्यों-ज्यों चित्त निर्मल होता जायेगा, अपने आप दुष्कर्म नहीं होंगे। चित्त मैला होता है, तभी वाणी और शरीर से दुष्कर्म होते हैं। जब चित्त निर्मल हो जायेगा, तो अनंत करुणा, मैत्री, मुदिता और अनंत समता से भर जायेगा। निर्मल-चित्त व्यक्ति किसी को हानि नहीं पहुँचा सकता। वह तो कल्याण ही करेगा।

चित्त की इस अवस्था तक पहुँचने के लिए धर्म के मार्ग पर एक-एक कदम चलते हुए अभ्यास स्वयं करना होगा। इस मार्ग को जरा विवरण के साथ समझें। उन दिनों की भाषा में इस धर्म-मार्ग को, मंगल-मार्ग को, मुक्ति-मार्ग को, विशुद्धि-मार्ग को, **'अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो'** कहा गया, याने आठ अंगवाला ऐसा मार्ग, जो हमें आर्य बना दे। आर्य शब्द का आज किसी जाति-विशेष के लिए प्रयोग होने लगा। भारतवर्ष की पच्चीस सौ वर्ष पहले की जन-भाषा में आर्य कहते थे –

संत व्यक्ति को, सज्जन व्यक्ति को, भले आदमी को, निर्मल चित्त व्यक्ति को। जो व्यक्ति संत नहीं हुआ हो, निर्मल चित्त नहीं हुआ हो, याने दूषित चित्त हो वह अनार्य कहलाता था।

यह आठ अंग वाला मार्ग किसी संप्रदाय का मार्ग नहीं है। यह सार्वजनीन मार्ग है, जो हर व्यक्ति को आर्य बना देता है, वह चाहे जिस संप्रदाय का, जाति का, मान्यता का या रंग-रूप का हो। मनुष्य तो मनुष्य ही है, एकदम पलट जायेगा। इस पर चलकर देखें। किसी के कहने से नहीं मानें, स्वयं अनुभव करें।

आओ, इस मार्ग को समझें। इस मार्ग के तीन भाग हैं। शील, समाधि और प्रज्ञा।

शील का अर्थ है सदाचार। शील के अंतर्गत धर्म के तीन अंग आते हैं :

'सम्मा वाचा, सम्मा कम्मन्तं और सम्मा आजीवो'।

'सम्मा वाचा' अर्थात सम्यक वाणी। वाणी शुद्ध होनी चाहिए, पवित्र होनी चाहिए। वाणी की शुद्धता, निर्मलता को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि वाणी का मैल क्या है ? जो झूठ बोलकर ठगता है, कडुवी-कटु बात बोलकर जी दुखाता है, चुगली की बात करके परस्पर प्रेम को तुड़वाता है, फजूल-निरर्थक बात करके समय नष्ट करता है, वह वाणी को मैला करता है। वाणी के इन चार प्रकार के मैल से बचें। वाणी अपने आप पवित्र हो जायेगी, शुद्ध हो जायेगी।

'सम्मा कम्मन्तं' अर्थात शरीर के कर्म सम्यक हों। कर्मांत इसलिए कहा कि हर कर्म का प्रारंभ मन से होता है, फिर वाणी पर उतरता है और आगे बढ़कर शरीर पर उतरता है। इसीलिए कर्मांत कहा। शरीर का हर कर्म शुद्ध, पवित्र होना चाहिए। शरीर के कर्म की शुद्धता को समझने के लिए यह समझें कि शरीर का मैल क्या है ? शरीर के चार प्रकार के मैले कर्म हैं – किसी प्राणी की हत्या करना, किसी दूसरे की वस्तु को चुराना, व्यभिचार करना और मादक पदार्थों

का सेवन करना। शरीर के इन चार दुष्कर्मों से बचें, शरीर के कर्म अपने आप निर्मल हो जायेंगे।

'सम्मा आजीवो' अर्थात सम्यक आजीविका। हर व्यक्ति को जीवन-यापन के लिए कोई-न-कोई कार्य करना आवश्यक है, चाहे वह नौकरी हो या व्यवसाय। इसमें मापदंड यही है कि आजीविका के साधन में अन्य किसी की हानि न हो। जिससे हमें आय होती है, आमदनी होती है, उसे हम धोखा न दें। बस, यही सम्यक आजीविका है।

धर्म का दूसरा क्षेत्र है– **समाधि**। यदि धर्म मात्र शील-सदाचार के उपदेशों पर ही आकर रुक जाता तो धर्म, धर्म नहीं होता। शील-सदाचार के उपदेश तो हमेशा से सुनते आए हैं। दुष्कर्म नहीं करना चाहिए, यह बात बुद्धि के स्तर पर खूब समझ में आती है, अच्छी भी लगती है, लेकिन जब करने का समय आता है तो दुष्कर्म हो ही जाता है, क्योंकि मन वश में नहीं है। समाधि द्वारा मन वश में किया जाता है। इसके तीन अंग हैं :

'सम्मा वायामो, सम्मा सति, सम्मा समाधि'।

'सम्मा वायामो' अर्थात सम्यक व्यायाम, सम्यक कसरत। जिस प्रकार शरीर के विकार, शरीर के रोग, दूर करने के लिए उचित व्यायाम, कसरत आवश्यक है, उसी प्रकार मन के विकार दूर करने के लिए, मन की निर्बलता दूर करने के लिए, मन का व्यायाम आवश्यक है। मन का यह व्यायाम क्या है ? अपने ही मन का निरीक्षण करते हैं और देखते हैं कि मन में यह खराबी है, यह बुराई है, तो उसे निकालने का प्रयास करते हैं। फिर मन को देखते हैं और पाते हैं कि मन में किसी प्रकार की बुराई नहीं है, तो मन के दरवाजे बंद कर लेते हैं और प्रयत्न करते हैं कि जो बुराई मन में नहीं है, वह आने न पाये। फिर मन को देखते हैं और पाते हैं कि मन में यह अच्छाई है, ये सद्गुण हैं, तो प्रयत्न करते हैं कि वे कायम रहें, उनका संवर्धन हो, उन्हें बढ़ावें। फिर मन का निरीक्षण करते हैं और अनुभव करते हैं कि मन में अमुक सद्गुण तो हैं ही नहीं, वे आने चाहिए।

इसलिए प्रयास करते हैं कि वे सद्गुण प्राप्त हों– बस, यही चारों मन के सम्यक व्यायाम हैं।

'सम्मा सति' अर्थात सम्यक स्मृति। पच्चीस सौ वर्ष में भाषा बदल जाती है, अर्थ बदल जाते हैं। आज तो स्मृति कहते हैं याददाश्त को, स्मरण-शक्ति को। उन दिनों स्मृति का मुख्य अर्थ था जागरूकता, सावधानी। जागरूकता वर्तमान क्षण की हुआ करती है। बीते हुए क्षणों के प्रति कोई सावधान नहीं रह सकता, उनका तो केवल स्मरण ही होता है। हम वर्तमान क्षण के प्रति जितने-जितने सजग हैं उतनी-उतनी सम्यक स्मृति है। अपने बारे में इस क्षण की जो सच्चाई है, बस इसी को महत्व देना है। हम देख रहे हैं कि मन अपनी पुरानी आदत के अनुसार भागता है– कभी भूत में तो कभी भविष्य में। प्रयत्न करते हैं, उसे वर्तमान पर लाते हैं। देखते हैं, सांस आ रही है, जा रही है, स्पर्श कर रही है, नहीं स्पर्श कर रही है। यों जो भी स्थिति है, उसी को देख रहे हैं। स्थूल से शुरू करके सूक्ष्मता की ओर उतरने लगे।

पहले स्थूल-स्थूल बातें जान लीं, मोटी-मोटी सांस जान लिया। फिर जरा सूक्ष्म सांस जान लिया, फिर सांस का छूना जान लिया। अब इससे ज्यादा सूक्ष्म बात जानने की कोशिश करेंगे। एक ओर सांस को जानते रहेंगे, दूसरी ओर यह जानेंगे कि नाक के त्रिकोण का जो स्थान हमने चुना है, वहां और क्या हो रहा है? सांस के स्पर्श की कुछ-न-कुछ प्रतिक्रिया हो ही रही है। मालूम होने लगेगा कि जो सांस भीतर की ओर आ रही है, वह शीतल-सा लगती है, जो बाहर जाती है वह उष्ण-सी लगती है। यह प्रकृति के नियम के अनुसार बाहर और भीतर के वातावरण के प्रभाव से हो रहा है। यह वर्तमान की सच्चाई है, कल्पना नहीं है। धीरे-धीरे अन्य सच्चाइयां प्रकट होने लगेंगी। ज्यों-ज्यों मन सूक्ष्म होने लगेगा, शरीर के अंदर जो-जो जीव-रासायनिक, विद्युत-चुंबकीय प्रतिक्रियाएं हो रही हैं, उनका अनुभव करने लगेगा।

फिलहाल तो अभ्यास को नाक के इस त्रिकोण तक ही सीमित रखना है। इसी सीमा के अंदर देखेंगे कि कभी भारीपन मालूम हो रहा

है तो कभी हल्कापन, कभी शीतलता तो कभी गर्मी, कभी खुजलाहट तो कभी कुछ और। किस समय क्या होगा, इसकी पूर्व धारणा नहीं होनी चाहिए, पूर्व कल्पना नहीं होनी चाहिए। स्वभाव से अपने आप जो हो रहा है, उसे ही देखेंगे। जागरूक रहकर वर्तमान की सच्चाई को देखेंगे। यही सम्यक स्मृति है। इसके द्वारा हम अनुभूतियों के स्तर पर ज्ञात से अज्ञात क्षेत्र को जानेंगे।

'सम्मा समाधि' अर्थात सम्यक समाधि। समाधि का अर्थ है चित्त की एकाग्रता। मन किसी भी आलंबन को लेकर एकाग्र हो सकता है, लेकिन मन की एकाग्रता मात्र सम्यक समाधि नहीं है। आलंबन को लेकर यदि हम राग पैदा कर रहे हैं, द्वेष पैदा कर रहे हैं तो यह सम्यक समाधि नहीं है। आलंबन को देखने का हमारा प्रयत्न राग, द्वेष और मोह-विहीन हो। हमारा चित्त एकाग्र हो और सतत जागरूक हो। जागरूकता इस क्षण की सच्चाई के प्रति हो और साथ ही राग, द्वेष और मोह-विहीन हो। बस, यही सम्यक समाधि है।

यह जो हम सांस को देख रहे हैं तो न राग जागता है, न द्वेष जागता है और न ही कोई भ्रम-भ्रांति याने मोह-मूढ़ता है। सांस आ रही है, जा रही है– इसी को देख रहे हैं। यदि कोई संवेदना मालूम हो रही है तो उसे भी राग, द्वेष और मोह-विहीन होकर देख रहे हैं। ऐसी समाधि में स्थित व्यक्ति राग, द्वेष और मोह-विहीन अवस्थाओं में वर्तमान क्षण की सच्चाई के प्रति सतत जागरूक है। यही सम्यक समाधि है, शुद्ध समाधि है, निर्मल समाधि है।

प्रज्ञा की चर्चा कल करेंगे।

क्षण-क्षण, क्षण-क्षण बीतते, जीवन बीतत जाय।
क्षण-क्षण का उपयोग कर, बीता क्षण नहिं आय॥

अपना भी होवे भला, भला सभी का होय।
जन-जन का मंगल सधे, शुद्ध धर्म है सोय॥

सांस देखते-देखते, सत्य प्रकटता जाय।
सत्य देखते-देखते, परम सत्य दिख जाय॥

धर्म न मिथ्या मान्यता, धर्म न मिथ्याचार।
धर्म न मिथ्या कल्पना, धर्म सत्य का सार॥

जब-जब अंतर जगत में, जागे चित्त विकार।
मैं भी दुखिया हो उठूं, दुखी करूं संसार॥

हिंदू हो या बौद्ध हो, मुसलिम हो या जैन।
जब-जब मन मैला करे, तब-तब हो बेचैन॥

तीसरा दिन

आज हमारी साधना के तीन दिन पूरे हुए। कल दोपहर को विपश्यना दी जायेगी। तबतक के लिए स्मृति का अभ्यास करना है और समाधि को पुष्ट करना है। मन को और अधिक सूक्ष्म तथा तीक्ष्ण बनाना है।

ध्यान के स्थान को जरा छोटा करना होगा। अब नासिका के नीचे ऊपर वाले होंठ तक का जो स्थान है, उस पर जो संवेदना मालूम हो, उसे महत्व देंगे। उसे देखेंगे।

संवेदना शब्द को लेकर कभी-कभी साधकों के मन में एक भ्रम, एक भ्रांति पैदा होती है ? क्योंकि ध्यान के नाम पर हमने बहुत-से बौद्धिक लेप लगा लिये हैं तो किसी अलौकिक अनुभूति की अपेक्षा होती है। लेकिन यह विधि अपने आप में निराली है। यहां किसी अलौकिकता के पीछे नहीं दौड़ना है। जो स्वाभाविक है, नैसर्गिक है, वास्तविक है, बस, केवल उसे ही देखना है।

कल हमने धर्म के आठ अंगों में से छः अंगों की चर्चा की थी। शील की चर्चा हुई, जिसमें शरीर और वाणी के दुष्कर्मों से बचने की बात थी। समाधि की चर्चा हुई, जिसमें मन को वश में करने की बात आयी। पर हमेशा मन के साथ जोर-जबरदस्ती करके, उसे दमन करते हुए कोई व्यक्ति दुखों से छुटकारा नहीं पा सकता। हर दमन हमारे मन में एक नई गांठ, एक नया तनाव पैदा करता है। दमन द्वारा एक बार वाणी और शरीर के दुष्कर्मों से तो बच जाते हैं क्योंकि मन अपने वश में आ गया, पर यह सही समाधान नहीं है। प्रारंभ तो अवश्य उससे होता है, पर जरा सा ही। हमें आगे बढ़ना है और उसी

को प्रज्ञा कहते हैं। प्रज्ञा के क्षेत्र में गहराइयों से गुजर जायेंगे तो मन को दबाने की जरूरत नहीं होगी।

आज प्रज्ञा के क्षेत्र को बौद्धिक स्तर पर समझेंगे। धर्म के शेष दो अंग प्रज्ञा के अंतर्गत आते हैं– **'सम्मा संकप्पो'** याने सम्यक संकल्प और **'सम्मा दिट्ठि'** याने सम्यक दृष्टि।

संकल्प का अर्थ है– चिंतन, मनन। हमारे मन में जो विचार चलते हैं, संकल्प-विकल्प चलते हैं वे सम्यक होने चाहिए, सही होने चाहिए। जब साधना का अभ्यास प्रारंभ किया तब भी विचार चलते थे और अब भी चलते हैं। हर साधक ने अनुभव किया होगा कि जब कार्य शुरू किया तब विचार बहुत अधिक राग-रंजित, द्वेष-दूषित और मोह-विमूढ़ित थे। सांस के प्रति साक्षीभाव लाते-लाते, स्मृति का अभ्यास करते-करते, अनुभव हुआ होगा कि दूषित विचारों से थोड़ा-थोड़ा छुटकारा होने लगा है। दूषित विचार कम होने लगे हैं।

प्रज्ञा के क्षेत्र का दूसरा अंग है सम्यक दृष्टि, सम्यक दर्शन। दर्शन शब्द आज बड़ा भ्रामक हो गया है। पच्चीस सौ वर्ष पहले भी दर्शन शब्द का दुरुपयोग होने लगा था। ध्यान के क्षेत्र में, अध्यात्म के क्षेत्र में, जिस सही अर्थ का प्रयोग होना चाहिए, वह तो लुप्त हो गया और दर्शन का अर्थ होने लगा अमुक-अमुक मान्यताएं, परंपराएं। हर संप्रदाय की अपनी भिन्न-भिन्न दार्शनिक मान्यताएं होती हैं। हर संप्रदाय अपनी इन दार्शनिक मान्यताओं को महत्व देता है और मानता है कि यही सम्यक दर्शन है। बस, यहीं विवाद खड़े हो गये। दर्शन का सही और वास्तविक अर्थ लुप्त हो गया। दर्शन का सही अर्थ है जो बात, जो वस्तु जैसी है, उसे वैसे ही उसके गुण-धर्म-स्वभाव में देखें। यही सम्यक दर्शन है।

प्रज्ञा के तीन सोपान हैं– श्रुतमयी प्रज्ञा, चिंतनमयी प्रज्ञा और भावनामयी प्रज्ञा।

श्रुतमयी प्रज्ञा का अर्थ है वह ज्ञान, जो हमने सुन लिया अथवा शास्त्रों में पढ़ लिया। बड़ा उपयोगी है यह ज्ञान। इसका अपना लाभ

है। इससे प्रेरणा मिलती है, मार्ग-दर्शन मिलता है। लेकिन किसी बात को केवल श्रद्धापूर्वक मान लेना मात्र काफी नहीं है। इस ज्ञान से, मार्ग-दर्शन से प्रेरणा लेकर आगे कदम बढ़े, तभी लाभ होता है, अन्यथा केवल सुना या पढ़ा हुआ ज्ञान अंध-श्रद्धा का रूप ले लेता है।

चिंतनमयी प्रज्ञा का अपना महत्व है। चिंतन-मनन करना मनुष्य का स्वभाव है, उसका अपना प्राकृतिक धर्म है। वह हर बात अपनी बुद्धि की कसौटी पर कसकर देखेगा। जो कुछ सुना है, पढ़ा है, उस पर चिंतन-मनन करके यह निश्चय करना कि कौन-सी बात युक्तिसंगत है, न्याय-संगत है, तर्क-संगत है, धर्म-संगत है ? तब ही उसे स्वीकार करना। लेकिन इससे भी अगला कदम है और वह नहीं उठा तो यह स्थिति भी खतरनाक हो जायेगी। सिर पर एक दंभ सवार हो जायेगा कि मुझे ज्ञान प्राप्त हो गया– सारे शास्त्र पढ़ लिये, उन शास्त्रों को तर्क-वितर्क से समझ लिया। मैं बड़ा प्रज्ञावान हो गया। यह भी बड़ी भ्रांतिमय स्थिति है। जबतक अपनी अनुभूति के स्तर पर अपने ज्ञान की वृद्धि नहीं होगी, सही माने में लाभ नहीं होगा।

अतः श्रुतमयी और चिंतनमयी प्रज्ञा से लाभ लेकर अगला कदम उठाना है, **भावनामयी प्रज्ञा** के क्षेत्र में प्रवेश करना है। अपनी अनुभूतियों के बल पर जो प्रज्ञा बढ़ रही है वह कल्याणकारिणी प्रज्ञा है। उसी से मनोबल सधता है, पुरानी गांठें खुलती हैं, नई गांठें नहीं बँधतीं। हम जो साधना कर रहे हैं, उसका यही लक्ष्य है कि प्रत्येक साधक की भावनामयी प्रज्ञा जाग्रत हो।

हर परंपरा के महापुरुषों ने जो बात कही, अपने अनुभवों से कही। पर वह हमारे काम की तभी होगी जबकि वह सारा अनुभव हमारे जीवन में उतरे। जो अनुभूति होती है, उसे शब्दों में पूरी तरह नहीं उतारा जा सकता। कुछ तो अनुभूतियां ऐसी हैं, जो इंद्रियातीत हैं। अंतिम सत्य की अनुभूति हैं, परम सत्य की अनुभूति हैं। इन अनुभूतियों को शब्दों में उतारना नितांत असंभव है, क्योंकि शब्दों की अपनी सीमा होती है, भाषा की अपनी सीमा होती है। इसलिए सत्य

की खोज में निकले साधक के लिए यह आवश्यक है कि सत्य को अपनी अनुभूति के स्तर पर जाने। यही भावनामयी प्रज्ञा है।

इस प्रकार सत्य की खोज आरंभ करते हैं तो अंतर्मुखी होकर जिस सच्चाई का पहले दर्शन करते हैं, वह हमेशा स्थूल, ठोस, ही होती है। स्थूल सत्य का दर्शन होता है, घनीभूत सत्य का दर्शन होता है। घनीभूत सत्य को देखते-देखते उसके टुकड़े होने लगते हैं तो फिर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और फिर सूक्ष्मतम सत्य के दर्शन होने लगते हैं और अंततः अंतिम सत्य, परम सत्य, तक जाते हैं। अपनी अनुभूति में जो उतर रहा है, वही अपनी प्रज्ञा है। यह प्रज्ञा कैसे बढ़े, कैसे भावित हो, कैसे इसका बहुलीकरण हो ? जो सच्चाई जैसे प्रकट हुई, उसे वैसे ही देखेंगे, वैसे ही स्वीकारेंगे। इस पर किसी मान्यता का, दर्शन का, अथवा राग का, द्वेष का, भ्रांति का रंग-रोगन नहीं चढ़ायेंगे।

सबसे पहली स्थूल सच्चाई इस शरीर की है। इससे काम शुरू करते हैं और इसकी सूक्ष्मताओं में उतरते हैं। धीरे-धीरे चित्त की सूक्ष्मताओं में उतरते हैं। उसके गुण, धर्म, स्वभाव को देखते हैं। इसके बाद जो इंद्रियातीत धर्म है, सच्चाई है; लोकातीत धर्म है, सच्चाई है, उसका साक्षात्कार अपने आप हो जाता है।

शरीर की और संसार की अनित्यता और क्षण-भंगुरता के बारे में खूब सुना और पढ़ा, लेकिन अनुभूतियों के स्तर पर यह बात नहीं जानी। इसलिए बड़ी भ्रांति होती है। उस व्यक्ति ने, जिसे सम्यक सम्बोधि प्राप्त हुई, बाहर की दुनिया को खूब देखा। बाहर की सच्चाइयों को बहुत देखा। फिर अंतर्मुखी होकर अंतर की सच्चाई को देखने लगा। इस शरीर के बारे में क्या सच्चाई है ? हड्डी है, मांस है, लहू है, त्वचा है, इत्यादि-इत्यादि। फिर इन्हें टुकड़े करके देखा तो पाया कि ये सब-के-सब नन्हें-नन्हें परमाणु-कणों से बने हैं और ये परमाणु-कण भी उत्पन्न होते हैं, नष्ट होते हैं। अनुभूति से मालूम हुआ कि उत्पन्न-नष्ट होने वाले ये कण परमाणु से भी छोटे हैं। उस समय की समृद्ध भाषा में भी ऐसे छोटे कण को व्यक्त करने के लिए कोई शब्द नहीं था।

तो एक नया शब्द गढ़ लिया **अट्ठकलाप** याने अष्टकलाप। अष्टकलाप उस इकाई को कहा, जहां आठ चीजें जुड़ गयीं। उनके और टुकड़े नहीं हो सकते। यह है भौतिक जगत की नन्हीं-से-नन्हीं इकाई।

क्या आठ बातें जुड़ गयीं ? चार भौतिक तत्व और उनके अपने-अपने गुण, धर्म, स्वभाव। पृथ्वी तत्व, जल तत्व, अग्नि तत्व, वायु तत्व – अपने-अपने गुण-धर्मों के साथ। और फिर देखा कि यह जो इतनी नन्हीं-सी इकाई है, यह भी ठोस नहीं है। तरंग-ही-तरंग है। नश्वर है, भंगुर है, उदय-व्यय ही उदय-व्यय है। और देखा कि इतनी तीव्र गति से इन तरंगों का उदय-व्यय हो रहा है कि पलक झपकने भर में ये अष्टकलाप अनेक शत सहस्त्र कोटि बार उत्पन्न हो-होकर नष्ट हो जाते हैं।

अनुभूतियों के स्तर पर जब यह बात स्पष्ट होती है कि यह शरीर कितना अनित्य है, कितना भंगुर है। प्रतिक्षण उदय होता है, व्यय होता है तो आसक्तियां अपने आप टूटने लगती हैं। जितनी-जितनी अनुभूति वाली यह प्रज्ञा पुष्ट होती है, सम्यक होती है, उतनी-उतनी आसक्ति टूटती ही है। प्रज्ञा का यह पहला स्वरूप, अनित्यबोध का स्वरूप, जब जागने लगता है, प्रमुख होने लगता है, तो राग दूर होते हैं, द्वेष दूर होते हैं, मोह दूर होते हैं याने दुख दूर होते हैं, व्याकुलता दूर होती है, कठिनाइयां दूर होती हैं, तनाव दूर होते हैं।

ज्यों-ज्यों अनित्य-बोध पुष्ट होने लगता है त्यों-त्यों प्रज्ञा का दूसरा अंग अनात्म-बोध स्पष्ट होने लगता है। यह अनात्म-बोध क्या है ? इसे भी ठीक से समझें।

दार्शनिकों के अनात्मवाद और आत्मवाद के विवाद में हमें नहीं पड़ना है। अनात्मभाव अर्थात अहंभाव और ममभाव का अभाव। 'मैं' नहीं है, 'मेरा' नहीं है। इस 'मैं-मैं' ने, 'मेरा-मेरा' ने कितनी आसक्ति पैदा कर दी है, यह खूब समझ में आने लगेगा। व्यवहार-जगत में 'मैं-मेरा', 'तू-तेरा' कहना पड़ता है। लेकिन वास्तविक कठिनाई आसक्ति की है, जिसके कारण दुख होता है। वस्तुतः इस शरीर-स्कंध के प्रति

गहरा चिपकाव हो गया है, गहरी आसक्ति हो गयी है। ऐसे ही चित्त-स्कंध के प्रति गहरा चिपकाव, गहरी आसक्ति हो गयी है। अनुभूति के स्तर पर देखने लगेंगे तो पता लगेगा कि जिनके प्रति आसक्ति पैदा कर रहे हैं, ये तो तरंगें-ही-तरंगें हैं।

'सब्बो पज्जलितो लोको, सब्बो लोको पकम्पितो'।

सारे लोक प्रज्वलित-ही-प्रज्वलित हैं, सारे लोक प्रकंपित-ही-प्रकंपित हैं। यह तो उदय-व्यय का प्रकंपन है, इसमें मैं और मेरा जैसा कुछ है ही नहीं। जब यह शरीर ही मेरा नहीं है तो इससे एक कदम भी आगे, एक इंच भी आगे जो वस्तु है, व्यक्ति है, स्थिति है, वह मेरी कैसे होगी ? अनात्म का अर्थ है जहां अहं समाप्त हो जाय, मम समाप्त हो जाय। तभी राग मिटता है, द्वेष मिटता है।

अनित्य और अनात्मबोध के साथ-साथ प्रज्ञा के तीसरे अंग – दुख का वास्तविक बोध होने लगता है। सही माने में दुख क्या है ? यह बात समझ में आने लगती है। जो अनित्य है, प्रतिक्षण बदलता है, प्रतिक्षण भंग होता है, जिस पर मेरा कोई अधिकार नहीं है, जो 'मैं' नहीं, 'मेरा' नहीं, उसके प्रति जितनी-जितनी आसक्ति है, उतना-उतना दुख ही है। यह बात अनुभूतियों से समझ में आयेगी, प्रवचनों से नहीं। सही माने में दुख के दर्शन होने लगेंगे। स्थूल-स्थूल दुख के दर्शन तो होंगे ही, आगे चलकर सूक्ष्म दुख के भी दर्शन होने लगेंगे, जिसे दुनियादारी की भाषा में सुख कहते हैं। अभी तो शरीर पर होने वाली स्थूल-स्थूल पीड़ाओं का जितना दुख है, उसे साक्षी भाव से देखना सीखेंगे। जिसे सुखद संवेदना कहते हैं, अनित्य स्वभाव वाली होने के कारण उसके नष्ट होने पर जो दुख होता है, उसे भी जानेंगे और साक्षीभाव से देखना सीखेंगे।

अनित्य, अनात्म और दुख की ये तीनों प्रज्ञाएं भीतर से अपने आप जागने लगेंगी, तो बाह्य जगत में भी प्रज्ञा का शासन चलेगा। जो बात अशुभ है, अशुभ ही लगेगी। जो असुंदर है, असुंदर ही लगेगी।

जैसे-जैसे अंतर्मुखी होकर गहराइयों में प्रवेश करेंगे तो मालूम होगा कि संगठन की, संश्लेषण की घनीभूत हो जाने की अपनी माया है। बड़ा भ्रम पैदा करती है यह माया। ज्यों-ज्यों प्रज्ञा पुष्ट होने लगेगी, सारी बात जैसी है, वैसी ही दिखने लगेगी। जैसा बाहर, वैसा भीतर। इस प्रकार के ज्ञान से कभी घृणा नहीं जागेगी। धर्म कभी किसी से घृणा करना नहीं सिखाता। मैत्री जागेगी, करुणा जागेगी, जीवन में समता आयेगी।

इस भावनामयी प्रज्ञा को जगाने के लिए कल काम शुरू करेंगे। इन तीन दिनों तक शील पालन करते हुए समाधि के क्षेत्र में जो पुरुषार्थ किया है, उसका लाभ कल मिलेगा। कितनी गहराइयों में जा सकेंगे, यह बात हर व्यक्ति की अपनी मेहनत पर, अपने काम पर, अपनी तपस्या पर निर्भर करती है। निरंतर अभ्यास में लगे रहें। सफलता मिलने ही वाली है।

कायिक कर्म सुधार ले, वाचिक कर्म सुधार।
मनसा कर्म सुधार ले, यही धर्म का सार॥

जो चाहे बंधन खुलें, मुक्ति दुखों से होय।
वश में कर ले चित्त को, चित के वश मत होय॥

चित से चित का दमन कर, चित से चित्त सुधार।
चित्त स्वच्छ कर चित्त से, खोल मुक्ति के द्वार॥

पर-सेवा ही पुण्य है, पर-पीड़न ही पाप।
पुण्य किये सुख ही मिले, पाप किये दुख-ताप॥

कुशल कर्म करते रहें, करें न पाप लवलेश।
मन निरमल करते रहें, शुद्ध धर्म उपदेश॥

कुदरत का कानून है, सब पर लागू होय।
मैले मन दुखिया रहे, निरमल सुखिया होय॥

चौथा दिन

साधना का चौथा दिन पूरा हुआ। चौथा दिन बड़े महत्व का दिन है। तीन दिन से इसी के लिए परिश्रम कर रहे थे। अनेक साधकों ने आज पहली बार अपने भीतर सत्य की धर्म-गंगा में डुबकी लगायी।

जब से जन्म लिया, आंखें खोलीं, बाहर-बाहर ही देखा। बहिर्मुखी, बहिर्मुखी, सारे जीवन बहिर्मुखी ही रहा। कहीं धर्म के नाम पर कोई काम किया भी तो बाहर-बाहर का ही– बाहरी वेश-भूषा, बाहरी बनाव-शृंगार, बाहरी दिखावा, बाहरी आडंबर। थोड़ा और आगे बढ़ा तो बाहरी-बाहरी कर्मकांड। इन्हीं में सारा जीवन बिता दिया। यदि कोई कुछ और आगे बढ़ा तो अध्यात्म के नाम पर बुद्धि-विलास करने लगा। केवल दार्शनिक ऊहापोह, दार्शनिक वाद-विवाद। अध्यात्म का अर्थ ही नहीं समझा, धर्म का अर्थ ही नहीं समझा। अध्यात्म कहते हैं अपने भीतर की सच्चाइयों को स्वानुभूति द्वारा जानने को। धर्म कहते हैं धारण करने को। पर न कभी भीतर देखकर सच्चाई का अनुभव किया, न उसे धारण किया। सत्य के अनुसंधान का कार्य ही नहीं किया, खोज का कार्य ही नहीं किया। भीतर जो अमृत भरा है, उस तक पहुँचा ही नहीं, उसे चखा ही नहीं।

आज जो कदम उठाया है, वह नन्हा-सा कदम है इस लंबी यात्रा का, जिस पर हम चलना चाहते हैं। अंतर्मुखी होने का पहला कदम है, इसलिए बड़े महत्व का है। अंतर्मुखी दो प्रकार से हो सकते हैं– एक तो आंखें बंद करके बैठ गए और लगे किसी कल्पना का ध्यान करने– कल्पना-ही-कल्पना। कल्पना बड़ी प्रिय लगती है, बड़ी सुखद, पर सच्चाई से कोसों दूर। दूसरे अंतर्मुखी होते हैं कल्पना से मुक्त, सत्य-दर्शन के लिए। हमें यही करना है।

भारतवर्ष बड़ा पुराना देश है। इस देश में साधना की अनेक विधियां उत्पन्न हुईं, पनपीं, बिगड़ीं, नष्ट हुईं, लुप्त हुईं। यह एक अलग विधि है– भारत की लुप्त हुई पुरातन साधना-विधि। इसे समझें। किसी पूर्वाग्रह से, पूर्व-बुद्धि-लेप से, शंका में न उलझें।

आज हम समझेंगे कि इस साधना का यह पहला कदम क्या है ? कैसा है ? नए-नए साधकों के समक्ष कई प्रश्न आते हैं। कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जो समान रूप से सभी नए साधकों के समक्ष आते हैं। पहले उनका समाधान कर लें।

एक प्रश्न यह उठता है कि सिर से पांव तक की यह यात्रा किसी एक क्रम से ही क्यों करें ? आवश्यक नहीं कि जो क्रम हमने बतलाया है उसी क्रम से करें। किसी क्रम से करें, लेकिन क्रम से अवश्य करें, ताकि शरीर का कोई अंग छूट न जाय। इस शरीर-स्कंध के बारे में हम सत्य की खोज कर रहे हैं। इस खोज में किसी अंग को अछूता नहीं रखना है। किसी अंग को मूर्छित नहीं छोड़ना है।

एक प्रश्न यह उठता है कि जो सिर से पांव तक की यात्रा है, यह ऊपरी स्तर पर ही करें या भीतर भी ? आगे जाकर तो यह यात्रा भीतर तक करनी ही है। फिलहाल ऊपरी-ऊपरी स्तर पर संवेदना को देखें। जब सारे शरीर में संवेदना महसूस होने लगे तो भीतर तक देखना आसान हो जायेगा। यदि किसी को अभी भीतर तक महसूस होने लगा तो बहुत ठीक, अन्यथा इसके लिए आतुर न हों।

एक प्रश्न यह उठता है कि यह जो सिर से पांव तक चक्कर लगाते हैं, उसमें कितना समय लगना चाहिए ? उसके लिए कोई समय निर्धारित नहीं है। निर्भर करता है साधक की मनःस्थिति पर। कभी-कभी मन दुर्बल होता है, चंचल होता है, तो बड़ा स्थूल होता है। जहां पहुँचें वहां कुछ महसूस ही नहीं हुआ तो एक-दो मिनट रुककर आगे चलता है। इस तरह रुकते-रुकते यात्रा में आधा घंटा भी लग जाय, एक घंटा भी लग जाय। हमें अपना काम करना है। जो समय लगता है, लगे। जब

मन सजग है, स्थिर है तो जहां पहुँचा वहीं कुछ महसूस हुआ और तुरंत आगे बढ़ा तो समय कम लगेगा। लेकिन अब जबकि काम शुरू ही किया है तो एक पूरी यात्रा में कम-से-कम दस मिनट तो लगने ही चाहिए, ताकि कोई अंग छूटने न पाए। जहां कहीं कुछ महसूस न हो और उस स्थान पर एक-दो मिनट के लिए रुकें तो बड़े धीरज के साथ निरीक्षण करें। यदि संवेदना नहीं मालूम हो तो व्याकुल न हों। संवेदना उत्पन्न करने का व्यर्थ प्रयत्न नहीं करना है। कोई कृत्रिम संवेदना नहीं लानी है। जैसी स्थिति है उसे साक्षीभाव से देखना है। हमारे शरीर के प्रत्येक अंग में कुछ-न-कुछ हो ही रहा है। शांत चित्त से उसे देखना है। धीरे-धीरे स्थूल मन सूक्ष्म होने लगेगा और सूक्ष्म मन संवेदनशील होने लगेगा।

हमें अपने शरीर के अंग-प्रत्यंग में जो कुछ स्वभाव से हो रहा है, उसे देखना है। यदि मौसम के कारण शरीर पर प्रभाव पड़ रहा है तो उसे देखेंगे। शरीर पर गर्मी है तो गर्मी को देखेंगे, पसीना है तो पसीने को, भारीपन है तो भारीपन को। कहीं कोई रोग या बीमारी के कारण दर्द है, तो दर्द को देखेंगे। अबतक भोक्ता होकर भोगते आए हैं। अब उसे साक्षीभाव से, तटस्थभाव से, देखेंगे। न अच्छा मानेंगे, न बुरा मानेंगे। जिस स्थान पर जैसी संवेदना हो रही है, उसे जानना है। बस, केवल जानना है। प्रतिक्रिया नहीं करनी है। कदम-कदम सच्चाई के सहारे, तथ्य के सहारे चलेंगे। प्रारंभ में बड़े स्थूल तथ्य ही सामने आते हैं– ये प्रकट सत्य हैं, भासमान सत्य हैं। किसी अंग में बड़े जोर की पीड़ा महसूस हो रही है। यह घनीभूत पीड़ा इस क्षण की सच्चाई है। शरीर का अमुक भाग ठोस है, यह इस क्षण का प्रकट सत्य है, भासमान सत्य है। उसे साक्षीभाव से देखेंगे। उसके टुकड़े होने लगेंगे, विघटन-विश्लेषण होने लगेगा। सघनता टूटेगी। अंततः यह प्रतीत होगा कि यह पीड़ा, यह सघनता केवल तरंगे-ही-तरंगें हैं। इस तरह प्रकट, भासमान, सत्य से हम परमार्थ सत्य की ओर बढ़ेंगे। घनीभूत सत्य का बिना विघटन-विश्लेषण किये, बिना टुकड़े-टुकड़े किये, हम परम सत्य तक नहीं पहुँच पायेंगे। यदि हमें सूर्य का दर्शन करना

है तो जबतक घने-घने बादल छाये रहेंगे, सूर्य का दर्शन नहीं कर सकेंगे। जैसे ही घने बादल बिखर जायेंगे सूर्य-दर्शन का प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा। अपने आप हो जायेगा। जबतक चित्त पर राग के, द्वेष के, मोह के घने-घने बादल छाये रहेंगे, परम सत्य का साक्षात्कार नहीं हो सकेगा।

इस समय ठोस सत्य हमारे सामने आया है, उसे स्वीकार कर साक्षीभाव से देखना है। कुदरत के कानून को देखना है। कुदरत का कानून, प्रकृति का नियम, सर्वव्यापी है, सब पर लागू होता है। सजीव, निर्जीव, अणु-अणु पर लागू होता है। जिस समय इसका साक्षात्कार हो जाता है, मनुष्य अपने आप इस कानून के अनुसार ढल जाता है। यह साधना इसीलिए कर रहे हैं कि हम अपनी-अपनी अनुभूतियों के स्तर पर प्रकृति के इस विधान को समझें, परम सत्य को जानें और उसके अनुसार अपने जीवन को ढालें। यही धर्म है।

सारे संसार में प्रतिक्षण कुछ बदल रहा है, कोई घटना घट रही है। कोई बीज धरती में बोया गया तो वह फूट रहा है, अंकुरित हो रहा है। एक नन्हा-सा पेड़ फूट रहा है, उसमें से कोई डाल निकल रही है, शाखा निकल रही है, टहनी निकल रही है, पत्ता निकल रहा है, विकसित हो रहा है, फूल निकल रहा है, फल निकल रहा है, विकसित हो रहा है। पेड़ बढ़ रहा है। यह सच्चाई है कि कुछ-न-कुछ बने ही जा रहा है। इसलिए इस संसार को भव संसार कहा गया – भव, भव, भव। वैसे व्यवहार जगत में कहना पड़ता है कि अमुक प्राणी है, जीव है, भूत है लेकिन वास्तव में ऐसा कुछ है ही नहीं। केवल भव है, भव है। ऐसा कुछ भी नहीं है, जो बन बनाकर तैयार हो गया हो और उसमें अब कोई परिवर्तन नहीं होगा। सब कुछ बदल ही रहा है। यह सच्चाई जब अनुभूति के स्तर पर जानेंगे, तब वास्तव में एक महत्वपूर्ण सत्य का दर्शन होगा।

साधना के अभ्यास में एक और सच्चाई सामने आती है कि जो बदल रहा है, वह अकस्मात्, अकारण, नहीं बदल रहा। उसके पीछे

एक या अनेक कारण हैं। बिना कारण के कुछ होता ही नहीं। किसी कारण से ही कोई कार्य संपन्न होता है, जो अगले कार्य का कारण बन जाता है। यह कार्य-कारण, कारण-कार्य की शृंखला अनवरत गति से चलती रहती है। ज्यों-ज्यों गहराइयों में उतरते जायेंगे एक और सच्चाई स्पष्ट होने लगेगी। जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य सम्पन्न होता है। प्रकृति का नियम है जैसा बीज, वैसा फल। यदि कड़वा नीम बोयेंगे तो कड़वा फल ही आयेगा। मीठा आम बोयेंगे तो मीठा फल ही आयेगा। यह प्रकृति का अटूट नियम है। इसके विपरीत हो ही नहीं सकता।

जैसा बीज वैसा ही फल आने वाला है तो अपने कर्म-बीजों के प्रति सजग रहना होगा। समझें कि कर्म क्या हैं ? किसे कर्म-बीज कहें ? कर्म तो शरीर, वाणी और मन से भी होता है। कौन-से कर्म को महत्व दें ? सामान्यतया लोग शरीर के कर्म को ही प्रमुख मानते हैं, वाणी के कर्म को उससे हल्का और मन के कर्म को कोई महत्व ही नहीं देते। लेकिन जिस व्यक्ति को सम्यक् सम्बोधि प्राप्त होती है, जिसने अनुभूतियों के स्तर पर कुदरत के कानून को समझा, वह जान लेता है कि न शरीर का कर्म फल देता है, न वाणी का कर्म। मन का कर्म ही फल देता है। शरीर और वाणी के कर्म तो मन के कर्म के ही बाह्य प्रक्षेपण हैं, बाह्य प्रकटीकरण हैं। हर कर्म पहले मन में शुरू होता है। फिर बढ़ते-बढ़ते तीव्र होगा तो वाणी पर उतर आयेगा। और अधिक तीव्र होगा तो शरीर पर उतर आयेगा। जो शरीर या वाणी का दुष्कर्म है, वह मन के दुष्कर्म की ही संतान है। इसी प्रकार जो शरीर या वाणी का सत्कर्म है वह भी मन के सत्कर्म की ही संतान है। यह कुदरत का कानून किसी के उपदेश से नहीं मान लेना है। किसी पुस्तक में लिखा है, इसलिए नहीं मान लेना है। अनुभूतियों से जानकर मानना है कि जैसी चित्त की चेतना होती है, वैसा ही फल आता है।

ये सारी बातें अनुभूतियों में उतरेंगी तो कुदरत के कानून को ठीक

से समझेंगे और तब अपने चित्त पर पहरा लगायेंगे। जो व्यक्ति अपने चित्त की चेतना पर पहरा लगाने लगा, उसको अपनी वाणी पर, शरीर पर पहरा लगाने की आवश्यकता नहीं। यदि चित्त की चेतना सुधरी हुई है तो वाणी से, शरीर से जो कर्म होंगे, कल्याणकारी ही होंगे।

साधना आरंभ करते-करते हमने अपने शरीर और चित्त-स्कंध के बारे में कुछ-कुछ सच्चाइयों को अनुभूति के सहारे देखा था। सांस को देखते-देखते भी चित्त की बात थोड़ी समझ में आने लगी थी। अब काया को देखते-देखते, काया की संवेदना को देखते-देखते, चित्त और चित्तवृत्तियों की बात और अधिक समझ में आने लगेगी। यह समझने लगेंगे कि यह मन या चित्त क्या है ? इसकी चेतना क्या है ? कैसे काम करती है ?

चित्त की चेतना के चार मोटे-मोटे स्तंभ, चार मोटे-मोटे हिस्से हैं। उन दिनों की भाषा में चित्त के पहले खंड को विज्ञान, दूसरे को संज्ञा, तीसरे को वेदना और चौथे खंड को संस्कार कहा गया।

उन दिनों विज्ञान का अर्थ था केवल जानना। अंग्रेजी में अनुवाद करें तो इसे कॉन्शसनेस कह सकते हैं। ये जो आंखें हैं, नाक है, जीभ है, कान हैं, त्वचा है – ये इंद्रियां अपने आप में बिल्कुल निर्जीव हैं। जबतक चेतना का यह विज्ञान-खंड इनके साथ नहीं लगता, तबतक ये काम नहीं कर सकतीं। इसके साथ विज्ञान खंड के जुड़ते ही जानकारी होती है किसी वस्तु की, पदार्थ की, गंध की, रस की, शब्द आदि की। बस, केवल जानकारी होती है। जैसे ही जानकारी हुई, चेतना का दूसरा खंड संज्ञा उत्पन्न होता है, जिसका काम पहचानने का है। यह पहचान अबतक के अनुभवों के आधार पर, याददाश्त के आधार पर, होती है। पहचान होती है तो मूल्यांकन होता है। शब्द आए तो पहचाना – ये प्रशंसा के हैं, ये गाली के हैं। जैसे ही पहचाना और मूल्यांकन कर लिया, चेतना का तीसरा खंड उत्पन्न होता है, जिसे वेदना कहा गया। वेदना अर्थात् संवेदना – सुखद भी होती है दुखद भी। जैसे ही दुखद या सुखद संवेदना होती है तुरंत उसके प्रति प्रतिक्रिया होती है, जिसे संस्कार कहा गया। यह चेतना का चौथा खंड है।

सुखद संवेदना हुई। प्रिय लगी। उसके प्रति राग जागा। दुखद संवेदना हुई। अप्रिय लगी। उसके प्रति द्वेष जागा। आंख, नाक, कान, जीभ, त्वचा और मन– ये जो हमारी छः इंद्रिया हैं, इन पर ज्योंही संबंधित विषय टकराते हैं, त्योंही त्वरित गति से जानने, पहचानने, मूल्यांकन करने, संवेदनशील होने और संस्कार बनाने का कार्य होता है। सदैव यही करते रहते हैं– राग के संस्कार बनाते हैं, द्वेष के संस्कार बनाते हैं। इसी आदत के बाहर निकलना है। ठीक तरह से समझ लेना चाहिए कि कर्म-संस्कार के बीज कहां बनते हैं, कैसे बनते हैं ? चित्त का पहला हिस्सा विज्ञान जो जानने का काम करता है, वह कर्म का बीज नहीं बनता। इसी प्रकार चित्त का दूसरा हिस्सा संज्ञा जो पहचानने का काम करता है, वह भी बीज नहीं बनता। चित्त का तीसरा हिस्सा वेदना भी बीज नहीं बनता। चित्त का चौथा हिस्सा संस्कार जो प्रतिक्रिया करता है, वही बीज बनता है। कोई भी संपर्क चाहे आंख से हो, नाक से हो, कान से हो, जीभ से हो, त्वचा से हो अथवा मन से हो, उसका प्रभाव शरीर पर होगा ही, और तब प्रतिक्रिया होगी, संस्कार बनेगा। यह संस्कार शरीर की संवेदना के आधार पर ही बनेगा।

जब संवेदना को देखना आ जायेगा तो उसके प्रति न राग पैदा करेंगे, न द्वेष पैदा करेंगे, न मोह पैदा करेंगे। केवल द्रष्टाभाव से उसे देखेंगे। संवेदना सुखद हो या दुखद, वह नश्वर है, भंगुर है। उसे द्रष्टाभाव से देखना है। घंटे भर की साधना में एक क्षण भी ऐसा आया तो अभ्यास करते-करते वही एक क्षण अनेक क्षण बन जायेंगे। अनेक सेकेंड बन जायेंगे, अनेक मिनट बन जायेंगे। ऐसी स्थिति भी आयेगी ही, जबकि जो कुछ हो रहा है उसको जानेंगे और जानकर प्रतिक्रिया नहीं करेंगे। राग नहीं पैदा करेंगे, द्वेष नहीं पैदा करेंगे। यों पलट जायेगा स्वभाव राग और द्वेष के कर्म बांधने का।

सिर से पांव तक सारे शरीर में चक्कर लगाते रहना और जहां-जहां सुखद या दुखद जो भी संवेदना हो रही है, उसे जानकर निर्लिप्त, तटस्थ रह जाना है। जो कुछ हो रहा है उसे भोगें नहीं, मात्र देखें। जितना-जितना

द्रष्टाभाव पुष्ट होता चला जायेगा, उतना-उतना पुराना भोक्ताभाव का स्वभाव, राग-रंजित, द्वेष-दूषित और मोह-विमूढ़ित रहने का स्वभाव टूटता चला जायेगा और वीत-रागता, वीत-द्वेषता और वीत-मोहता दृढ़ होती चली जायेगी। प्रज्ञा पुष्ट होगी। जहां प्रज्ञा पुष्ट होगी यानी प्रज्ञा में स्थित होंगे, वहां अनासक्त होंगे ही। जीवन-मुक्त होंगे ही।

वाणी तो वश में भली, वश में भला शरीर।
पर जो मन वश में करे, वही शूर वह वीर॥

शील समाधि ज्ञान ही, मंगल का भंडार।
सब सुख साधनहार है, सब दुख मेटनहार॥

शील धर्म पालन भला, निरमल भली समाधि।
प्रज्ञा तो जाग्रत भली, दूर करे भव व्याधि॥

शीलवान के ध्यान से, प्रज्ञा जाग्रत होय।
अंतर की गांठें खुलें, मानस निरमल होय॥

शील समाधि ज्ञान की, बहे त्रिवेणी धार।
डुबकी मारे सो तिरे, हो भव सागर पार॥

गंगा जमुना सरस्वती, शील समाधि ज्ञान।
तीनों का संगम हुआ, प्रगटे पद निर्वाण॥

पांचवा दिन

आज साधना के पांच दिन पूरे हुए। हम अन्तर्मुखी होकर अपने ही शरीर-स्कंध को देख रहे हैं, चित्त-स्कंध को देख रहे हैं। यह जो सिर से पांव तक चक्कर लगा रहे हैं, कोई रूढ़ि नहीं पूरी कर रहे हैं। अपने आपको देखने का अभ्यास कर रहे हैं। अपने मन और शरीर के स्वभाव को देख रहे हैं। देख रहे हैं कि मन कितना राग-रंजित है, कितना द्वेष-दूषित है और शरीर पर इसका क्या प्रभाव पड़ रहा है?

यह जो मनुष्य-जीवन को दुखी बनाने वाला रोग है, उसे समझें, उसके कारण को समझें। जीवन में दुख तो है ही। किसी को इस बात का दुख है तो किसी को उस बात का। जीवन-जगत की यह पहली सच्चाई है। बिना कारण के कुछ होता नहीं। दुख के पीछे कोई कारण है, यह दूसरी सच्चाई है। यदि कारण दूर कर लिया तो दुख दूर हो ही गया। यों दुख दूर करने का एक तरीका है। यह तीसरी और चौथी सच्चाइयां हैं। जीवन-जगत की ये चार सच्चाइयां हमारे लिए सबसे महत्वपूर्ण सच्चाइयां हैं।

चित्त की चेतना के बारे में हमने चर्चा की कि चेतना का एक खंड, विज्ञान, जानने का काम करता है। दूसरा खंड, संज्ञा, पहचानने का काम करता है। तीसरा खंड, वेदना, संवेदनशील होने का काम करता है और चौथा खंड, संस्कार, प्रतिक्रिया करने का काम करता है। अनुभूतियों के स्तर पर इस सारी प्रक्रिया को समझना है। जबतक जीवित हैं, सारे शरीरस्कंध पर कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी कारण से, कोई-न-कोई संवेदना होती ही रहती है। इंद्रियों के दरवाजों पर बाहर की कोई चीज टकराती है तो संवेदना होती है। भीतर मन और शरीर

के टकराव से संवेदना होती है। अंतर्मन की गहराइयों में इन संवेदनाओं की वजह से जो राग-द्वेष की प्रतिक्रियाएं हो रही हैं, यदि हमने उसे जाना ही नहीं, यदि उसका दर्शन ही नहीं किया तो उसे दूर कैसे कर सकेंगे ?

जीवन-जगत में दुख है, यह स्पष्ट है। इस सच्चाई को स्वीकार करना है। लेकिन मात्र स्वीकार करना काफी नहीं है। इस सच्चाई का दर्शन करना है। जब हम सच्चाई का दर्शन कर लेते हैं, तो यह सच्चाई आर्य सच्चाई बन जाती है। जबतक दुख को भोगते हैं, दुख का संवर्धन ही करते हैं, दुख को बढ़ाते ही हैं। जब दुख का दर्शन करने लगते हैं, तो दुख दूर होने लगता है। दुख सत्य, आर्य सत्य, बन जाता है। आर्य सत्य इस माने में कि देखने वाले को आर्य बना देगा, निर्मल बना देगा, संत बना देगा, मुक्त बना देगा, शुद्ध बना देगा, बुद्ध बना देगा।

इस साधना में हमें इस सच्चाई का अनुभव करना है और उसे साक्षीभाव से देखना है। घंटे भर एक ही आसन में बैठे रहने से बड़ा दुख अनुभव होता है, बड़ी पीड़ा होती है। इस पीड़ा को देखना है। साक्षीभाव से देखते-देखते यह पीड़ा कम होती जायेगी और ऐसी स्थिति आयेगी कि बिल्कुल समाप्त हो जायेगी। परंतु यदि इस पीड़ा को भोगते रहे, पीड़ा में कराहते रहे, तो पीड़ा न कम होगी, न मिटेगी। उसका संवर्धन ही होगा।

जब से मनुष्य जन्म लेता है. अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्याकुल रहता है। आवश्यकताओं की कोई सीमा नहीं है। बीमार होता है तो दुखी होता है। बूढ़ा होता है तो दुखी होता है। मरता है तो दुखी होता है। देखता है कि जीवन में दुख-ही-दुख है। सारे जीवन क्या चलता है ? जो प्रिय है उसका वियोग हुए जा रहा है, प्रिय व्यक्ति, प्रिय वस्तु, प्रिय स्थिति। जो अप्रिय है उसका संयोग हुए जा रहा है। अनचाही होती रहती है, मनचाही नहीं होती। जो कामना करता है, वह पूरी नहीं होती तो दुखी होता है। यह

जीवन-जगत की सच्चाई है। तीव्र इच्छा यानी तृष्णा अपने आप में व्याकुलता है। तृष्णा माने जो अपने पास है, उससे तृप्ति नहीं और जो नहीं है, उसे पाने के लिए व्याकुल हैं। साधना करते-करते स्वयं अनुभव होगा कि तृष्णा कैसे जागती है। शरीर में जो पीड़ा हो रही है, वह अपने आप में इतनी दुखदायी नहीं, लेकिन उसे दूर करने की तृष्णा कई गुना दुखदायी होती है। जीवन भर यही करते आए हैं। जो अप्रिय है उसे दूर धकेलना चाहते हैं, जो प्रिय है, उसे अपनी ओर समेटना चाहते हैं। तृष्णा का दुख इस धकेलने-समेटने का ही दुख है। यह सत्य है। लेकिन वह महापुरुष इस सच्चाई पर ही नहीं रुक गया। और गहराइयों में उतरा तो देखता है, **'सङ्खित्तेन पञ्चुपादान खन्धा दुक्खा'**। यह जो पांचों स्कंधों के प्रति उपादान यानी आसक्ति पैदा कर ली, यह दुख है। ये पांच स्कंध क्या हैं ? एक रूपस्कंध यानी परमाणुओं का स्कंध, भौतिक कलापों का स्कंध – यह सारा शरीर, जिसे 'मैं' कहता है, 'मेरा' कहता है, उसके प्रति गहरा चिपकाव है, आसक्ति है। इसी तरह चित्त के चार स्कंध – विज्ञान, संज्ञा, वेदना और संस्कार। इनके प्रति गहरा चिपकाव है। जैसे कलापों का अपना स्वभाव है, वैसे ही इन चित्त-स्कंधों का अपना स्वभाव है और वे अपने स्वभाव के अनुसार निरंतर काम करते रहते हैं। लेकिन इनके साथ इतना गहरा चिपकाव पैदा कर लिया है कि मैं जान रहा हूं, मैं पहचान रहा हूं, मैं संवेदनशील हो रहा हूं, मैं प्रतिक्रिया कर रहा हूं। व्यवहार-जगत में तो ऐसा कहना ही पड़े, लेकिन हमें वास्तविकता को समझना है, सत्य को समझना है, देखना है। इसके साथ जितनी आसक्ति पैदा की है, उतना ही दुख है। आसक्ति और दुख दोनों पर्यायवाची हैं। जहां आसक्ति वहां दुख। जितनी आसक्ति उतना दुख। यह प्रकृति का अटूट नियम है।

हम चार तरह की आसक्तियों को अपने भीतर सँजोए बैठे हैं। इन्हें दिन-रात बढ़ाए जा रहे हैं। एक तृष्णा की आसक्ति है। तृष्णा अपने आप में व्याकुलता बढ़ाती है, परंतु इसके साथ इतना चिपकाव पैदा कर लिया कि तृष्णा रहनी ही चाहिए। जिस किसी वस्तु, व्यक्ति,

स्थिति के प्रति तृष्णा जागी तो जबतक वह नहीं प्राप्त होती, बड़ी बेचैनी होती है, व्याकुलता होती है। परंतु प्राप्त होने पर शीघ्र ही फीकी लगने लगती है। अब दूसरी के प्रति तृष्णा जाग उठती है। वह मिली तो तीसरी, चौथी...। अंत ही नहीं है इस तृष्णा का। बिना पेंदी की बाल्टी है, जो कभी भरती ही नहीं। जीवन भर यही चलता है। तृष्णा कायम रहनी ही चाहिए, क्योंकि उसके साथ गहरी आसक्ति है।

एक अन्य आसक्ति है मैं के प्रति, मेरे के प्रति। जानते ही नहीं कि मैं क्या है, मेरा क्या है। फिर भी इस मैं के खिलाफ, मेरे के खिलाफ, कोई एक शब्द नहीं कहे। किसी ने कुछ कहा तो बड़ी व्याकुलता होती है, बड़ा दुख होता है। जिसे मेरा कहा, उसका विछोह होते ही दुख होता है। आसक्ति जो है। आसक्ति दुख ही लाती है।

एक अन्य आसक्ति होती है, अपने दर्शन के प्रति, अपनी परंपरागत मान्यता के प्रति। इस आसक्ति को लेकर मनुष्य खूब बहस करता है, विवाद करता है, लड़ता है, झगड़ता है, व्याकुल रहता है।

एक और आसक्ति अपने-अपने कर्म-कांडों के प्रति होती है। यह आसक्ति भी कम व्याकुल नहीं करती।

इन चार आसक्तियों पर ध्यान देंगे तो देखेंगे कि जब-जब दुख होता है, इन चारों में से कोई-न-कोई आसक्ति ही उसका कारण होती है। परंतु वह महापुरुष, जो सम्यक् संबुद्ध बना, उसे तो कारण की जड़ों तक पहुँचना था। अनुसंधान चालू रहा। कार्य-कारण-शृंखला की एक-एक कड़ी का निरीक्षण करते हुए जड़ों तक जा पहुँचा। जीवन में दुख तो है ही।

'जाति-पच्चया जरा-मरणं-सोक-परिदेव-दुक्खदोमनस्सुपायासा सम्भवन्ति।'

जन्म हो गया तो बुढ़ापा, बीमारी, मृत्यु आयेगी ही। शोक, बेचैनी, परेशानी आयेगी ही। पर जन्म क्यों हुआ ? बिना कारण तो इस जगत में कुछ भी नहीं होता। जन्म के लिए माता-पिता का संयोग

आवश्यक है, जो प्रकृति का एक नियम है, लेकिन इसके अतिरिक्त यह समझें कि जीवन-धारा किस प्रकार चलती है –

'भव पच्चया जाति'। यह भव-भव-भव कुछ बनता ही जा रहा है। मृत्यु के साथ बात समाप्त नहीं होती। मृत शरीर में भी परिवर्तन होते जा रहा है और यह चेतना की धारा तुरंत किसी दूसरे शरीर से जुड़ जाती है। फिर क्षण-क्षण बनती है, बिगड़ती है। इस प्रकार यह क्रम चलता ही रहता है। तो यह भव क्यों होता है ? अनुभूतियों से देखने पर एकदम समझ में आ गया –

'उपादान पच्चया भवो'। यह आसक्ति ही भव का कारण है। जितनी गहरी आसक्ति होगी, उतना गहरा भव-कर्म होगा। तो यह उपादान क्यों होता है ? उसका क्या कारण है ? अनुभूतियों द्वारा तुरंत मालूम हुआ –

'तण्हा पच्चया उपादानं'। तृष्णा यानी यह राग और द्वेष ही उपादान के कारण हैं। तृष्णा क्यों पैदा होती है ? स्पष्ट हुआ –

'वेदना पच्चया तण्हा'। सारे शरीर-स्कंध पर जहां संवेदना होती है, वहां तृष्णा जागती है। सुखद संवेदना हो तो राग और दुखद संवेदना हो तो द्वेष। वेदना होने का क्या कारण है ? –

'फस्स पच्चया वेदना'। वेदना स्पर्श से होती है। इन छह इंद्रियों के द्वारों पर इनके विषयों से स्पर्श होते ही संवेदना होती है। तो यह स्पर्श क्यो होता है ? –

'सळायतन पच्चया फस्स'। यह छह इंद्रियों के दरवाजे खुले रहते हैं, इन पर स्पर्श होता है। तो यह छह इंद्रियां कहां से आयीं ? बात स्पष्ट हो गयी –

'नाम-रूप पच्चया सळायतनं'। नाम-रूप की वजह से ये छह इंद्रियां आयीं। यह नाम-रूप क्या है ? नाम यानी मन और रूप यानी शरीर। इन दोनों की मिली-जुली जीवन-धारा जैसे ही शुरू हुई, छह इंद्रियों को लेकर ही शुरू हुई। तो यह नाम-रूप क्यों हुआ ? –

'विञ्ञाण पच्चया नाम-रूपं'। विज्ञान से नाम-रूप हुआ। यह विज्ञान यानी चेतना जो एक जीवन समाप्त होते ही उसके साथ समाप्त हो जाती है, पर अगले जीवन में फिर किसी अन्य शरीर के साथ नयी उत्पन्न हो जाती है। समाप्त होते ही अगले क्षण नया विज्ञान उत्पन्न हो जाता है। उसका स्वभाव है क्षण-प्रतिक्षण उत्पन्न होकर आगे बढ़ना। यह विज्ञान क्यों होता है?–

'सङ्खार पच्चया विञ्ञाणं'। हर संस्कार नया विज्ञान पैदा करता है। जैसे-जैसे साधना की गहराइयों में जायेंगे, मालूम होगा कि हर संस्कार नया विज्ञान यानी अगले क्षण की नई चेतना पैदा करता है। ये संस्कार कैसे बनते हैं?–

'अविज्जा पच्चया सङ्खारा'। अविद्या से ही संस्कार बनते हैं। अविद्या का अर्थ है अज्ञान, बेहोशी, विमूढ़ता। इस प्रकार सारा रहस्य खुल गया। जड़ तक बात समझ में आ गयी।

'अविज्जा-पच्चया सङ्खारा,

सङ्खार-पच्चया विञ्ञाणं,

विञ्ञाण-पच्चया नामरूपं,

नामरूप-पच्चया सळायतनं,

सळायतन-पच्चया फस्सो,

फस्स-पच्चया वेदना,

वेदना-पच्चया तण्हा,

तण्हा-पच्चया उपादानं,

उपादान-पच्चया भवो,

भव-पच्चया जाति,

जाति-पच्चया जरामरणं-सोक-परिदेव-दुक्ख-दोमनस्सुपायासा सम्भवन्ति।

एवमे तस्स केवलस्स, दुक्खक्खन्धस्स समुदयो होति।'

देख लिया कि किस प्रकार यह दुख का पहाड़ खड़ा होता है। सारा खेल समझ में आ गया। यह अविद्या, यह बेहोशी ही दुख का मूल कारण है। इस अविद्या को जड़ से काटें :

'अविज्जाय त्वेव असेस विराग-निरोधा सङ्खार-निरोधो,

सङ्खार-निरोधा विञ्ञाण-निरोधो,

विञ्ञाण-निरोधा नाम-रूप-निरोधो,

नामरूप-निरोधा सळायतन-निरोधो,

सळायतन-निरोधा फस्स-निरोधो,

फस्स-निरोधा वेदना-निरोधो,

वेदना-निरोधा तण्हा-निरोधो,

तण्हा-निरोधा उपादान-निरोधो,

उपादान निरोधा भव-निरोधो,

भव-निरोधा जाति-निरोधो,

जाति-निरोधा जरामरणं-सोक-परिदेव-दुक्ख-दोमनस्सुपायासा निरुज्झन्ति।

एवमेतस्स केवलस्स दुक्खक्खन्धस्स निरोधो होती'ति।'

कारण का निवारण समझ में आ गया। कितना भी बड़ा दुखों का पहाड़ क्यों न खड़ा कर लिया हो, सारा-का-सारा समाप्त हो जायेगा। अविद्या को जड़ से उखाड़ना सीखें। कैसे उखाड़ें ? दुख को देख लिया। दुख के कारण को देख लिया, अविद्या की शृंखला देख ली। जीवित हैं तो नाम-रूप की धारा चलेगी ही। इंद्रियां भी अपना काम करेंगी ही। स्पर्श भी होगा ही। संवेदना भी होगी ही। और जब-जब संवेदना होगी, पुराने स्वभाव के कारण तृष्णा जागेगी। सुखद होगी तो राग की, दुखद होगी तो द्वेष की। बस, यहीं रोक लगानी होगी। वेदना तो हो, लेकिन **'वेदना-पच्चया तण्हा'** के स्थान पर **'वेदना-पच्चया पञ्ञा'** हो, प्रज्ञा जागे।

हर वेदना के साथ प्रज्ञा जागेगी तो अविद्या के कारण जो दुख-चक्र चल रहा था, वह पलट जायेगा 'धर्म-चक्र' में।

क्या है धर्म-चक्र ? जब-जब वेदना जागे, हर वेदना प्रज्ञा जगाए – अनित्य है, नश्वर है। देख तो सही इसे। राग मत पैदा कर। द्वेष मत पैदा कर। हर संवेदना के साथ जितनी देर प्रज्ञा जागती है, नए संस्कार नहीं बनते। इतना ही नहीं, पुराने संस्कार भी कटने लगेंगे।

'खीणं पुराणं नवं नत्थि संभवं'। नया नहीं बनने पायेगा और पुराना क्षीण हो जायेगा। उस महापुरुष ने प्रकृति के इस कानून को, विधान को, देख लिया। नया बनाना बंद किया तो पुराना क्षीण पड़ने लगा। क्षीण होते-होते एक ऐसी अवस्था पर पहुँच गया कि सारे पुराने भव-संस्कार क्षीण हो गए। प्रज्ञा को जगाते-जगाते चित्त नितातं निर्मल हो गया। नितातं विमुक्त हो गया। शुद्ध-बुद्ध हो गया। उस समय जो हर्ष के उद्गार निकले वे बड़े महत्व के हैं :–

'अनेक-जाति-संसारं, सन्धाविस्सं अनिब्बिसं।
गहकारकं गवेसन्तो, दुक्खा जाति पुनप्पुनं।
गहकारकदिट्ठोसि, पुन गेहं न काहसि।
सब्बा ते फासुका भग्गा, गहकूटं विसङ्खितं।
विसङ्खारगतं चित्तं, तण्हानं खयमज्झगा'।

कितनी बार जन्म लिया इस संसार में, गिनती ही नहीं। जन्म लेता गया और बिना रुके [मृत्यु की ओर] दौड़ लगाता गया। इस कायारूपी घर बनाने वाले की खोज करते हुए पुनः- पुनः दुखमय जीवन में पड़ता रहा। अब घर बनाने वाले को देख लिया। अब नया घर नहीं बना सकेगा। सारी कड़ियां भग्न हो गयीं। घर का शिखर टूट गया। घर बनाने की सारी सामग्री तोड़-फोड़कर फेंक दी गयी। चित्त पूर्व संस्कारों से विहीन हो गया। भविष्य के लिए कोई तृष्णा नहीं रह गई। तृष्णा का समूल नाश हो गया। विमुक्त हो गया।

हर व्यक्ति ऐसा कर सकता है। हर व्यक्ति इस अवस्था तक पहुँच सकता है। पर काम करना होगा। काम स्वयं ही करना होगा।

आठ अंग का आर्य पथ, शुद्ध धर्म का पंथ।
कदम-कदम चलते हुए, दुर्जन होवे संत॥

पंचशील पालन भला, निरमल भली समाधि।
प्रज्ञा तो जागी भली, दूर करे भव व्याधि॥

मन के करम सुधार ले, मन ही प्रमुख प्रधान।
कायिक वाचिक करम तो, मन ही की संतान॥

मन ही दुर्जन मन सुजन, मन बैरी मन मीत।
जीवन में मंगल जगे, जब मन होय पुनीत॥

जैसी चित्त की चेतना, फल वैसा ही होय।
दुर्मन का फल दुखद ही, सुखद सुमन का होय॥

जबतक मन में राग है, जबतक मन में द्वेष।
तबतक दुख ही दुःख है, मिटे न मन के क्लेश॥

छठा दिन

साधना के छह दिन पूरे हुए। हमारी सफलता इसी बात पर निर्भर है कि विधि को ठीक-ठीक समझते हुए आगे बढ़ें। आओ, आज फिर समझें– यह विधि कैसी है? इसका क्या अनूठापन है? क्या अनोखापन है?

इस विधि के दो पक्ष हैं, दो पहलू हैं। दोनों अत्यंत आवश्यक हैं। अत्यंत महत्व के हैं। ये पक्ष हैं– **समथ और विपश्यना**। पहले का अर्थ है– चित्त की ऐसी एकाग्रता, सूक्ष्मता, तीक्ष्णता कि वह गहराइयों तक सच्चाई को जान ले। दूसरे का अर्थ है – तटस्थता यानी इसे जानकर जरा भी विचलित न हो। न खुशियों में नाचने लगे, न दुख में रोने लगे। संतुलन रखे। जाने भी और समता में भी रहे। जिस अवस्था को नहीं जान रहे हैं, पहले उसे जानें और फिर समता में स्थापित हों।

यानी तटस्थ रहकर जानें। तटस्थ किसे कहते हैं? नदी के तट पर बैठे हैं और नदी के प्रवाह को देख रहे हैं। जो प्रवाह अपने स्वभाव से गतिमान है, उसे देख रहे हैं। ठीक इसी तरह सिर से पांव तक हमारे शरीर में जो कुछ स्वभाव से हो रहा है, उसे जानना है। जैसे नदी के प्रवाह में कई तरह के पदार्थ और तरंगें आती हैं, वैसे ही हमारे शरीर में भी संवेदनाएं आती हैं। ये संवेदनाएं आती हैं, जाने के लिए ही आती हैं, और चली जाती हैं। जिस तरह तटस्थ होकर नदी के प्रवाह को देखते हैं, उसी तरह साक्षीभाव से शरीर को देखना है।

आत्म-दर्शन संबंधी किसी बात को केवल इसलिए नहीं मान लेना है कि इसे किसी महापुरुष ने कहा है। अनुभूति पर उतरे तभी मानना है। जानो तब मानो। जानकर मानना अपने आपको सुधारना

है। बिना जाने मानना अपने आपको उलझाना है। अनुभूतियों द्वारा प्रत्यक्ष साक्षात्कार करें। परोक्ष ज्ञान बांधता है, प्रत्यक्ष ज्ञान खोलता है। उस महापुरुष को सम्यक सम्बोधि प्राप्त हुई तो उसने देखा कि संसार के लोग अपने अज्ञान के कारण बुद्धि-विलास में उलझे हैं, भटके हुए हैं। यदि यह सामान्य-सी कुदरत की बात अनुभूतियों से समझ लेंगे तो बड़ा कल्याण होगा। उलझन क्या है ? प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं करें, प्रत्यक्ष दर्शन नहीं करें, लेकिन परोक्ष ज्ञान की इतनी चर्चा करें कि सारा जीवन चर्चा में बिता दें। यह बड़ी उलझन है।

कौतूहल मंगल का एक नशा होता है। कौतूहल पूरा करें और उसी में अपना मंगल मानें। लेकिन कौतूहल कहां पूरा होता है ? आज एक कौतूहल पूरा हुआ कि कल दूसरा सिर उठायेगा। दूसरा पूरा हुआ कि तीसरा सिर उठायेगा। जैसे तृष्णा का अंत नहीं होता, वैसे ही कौतूहल का भी अंत नहीं होता। कौतूहल पूरा करने के लिए बुद्धि-विलास ही करते हैं। दर्शन की केवल बात करते हैं, जबकि दर्शन का अर्थ है साक्षात्कार, जो केवल अनुभूति से ही प्राप्त होता है। लेकिन दर्शन को फिलासफी बनाकर कोरे ज्ञान की चर्चा में उलझे रहते हैं। और करने लगते हैं वाद-विवाद, बहस और झगड़े। सारी निकम्मी बातें।

उस महापुरुष ने केवल काम की ही बात की। जब अंतर्मुखी होकर स्वयं को देखा और विभाजन करते-करते उस नन्हें कलाप तक पहुँच गया तो पाया कि इसमें चार महाभूत हैं– पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु; अपने-अपने गुण, धर्म और स्वभाव के साथ। पृथ्वी धातु से यह न समझ लें कि कोई मिट्टी का कण होगा। जल धातु कहा जाय तो उससे पानी की बूंद न ढूंढ़ने लगें। इसी प्रकार अग्नि धातु कहें तो कोई चिनगारी नहीं ढूंढ़ने लगें। वायु धातु कहने पर कोई हवा का झोंका न खोजने लगें। देखना है इन धातुओं के नैसर्गिक गुणों को, नैसर्गिक धर्मो को। पृथ्वी धातु का नैसर्गिक गुण, धर्म, स्वभाव क्या है ? पृथ्वी धातु आकाश को घेरती है। फैल करके घेरती है और आकाश से घिर जाती है। उसका किस प्रकार अनुभव किया जाय ? भारी है, हल्का

है। हल्के-से-हल्के और भारी-से-भारी तक का वजन का सारा क्षेत्र पृथ्वी धातु को अनुभव करने का क्षेत्र है। अग्नि धातु का क्षेत्र है शीतल-से-शीतल और गर्म-से-गर्म तक की सारी अवस्था – यानी तापमान का पूरा क्षेत्र अग्नि धातु का क्षेत्र है। इसी प्रकार हलन-चलन का सारा क्षेत्र वायु धातु का क्षेत्र है और जल धातु का क्षेत्र है नमी द्वारा बांधना, संयोजित करना, संश्लिष्ट करना।

विपश्यना का अभ्यास करते हुए हमें शरीर में विभिन्न प्रकार की संवेदनाओं की अनुभूतियां होती हैं। जब कभी पृथ्वी धातु प्रबल होकर आती है तो कहीं भारी लगता है, कहीं हल्का लगता है। जब वायु धातु प्रबल होकर आती है तो किसी प्रकार की हलन-चलन, तरंग या धड़कन का अनुभव होता है। हरएक धातु अपने-अपने स्वभाव को प्रकट करती है। इसी शरीर-स्कंध के परमाणु-समूह में चारों महाभूत समाये हुए हैं। इन चारों महाभूतों में से जब एक प्रबल होकर आयेगा तो अपने गुण, धर्म, स्वभाव को प्रकट करेगा और उसे ही हम संवेदनाओं के रूप में अनुभव करेंगे। अन्य सुषुप्त रहेंगे। कभी यह भी होता है कि दो महाभूत एक साथ प्रकट होकर आते हैं तो दोनों के गुण, धर्म, स्वभाव का अनुभव होता है। लेकिन ऐसा नहीं होता कि चारों एक साथ प्रबल होकर उठें।

बाहर की दुनिया में भी हम यही देखते हैं। कहीं ठोस बर्फ है तो उसे पृथ्वी धातु कहें। जब बर्फ पिघलकर तरल हो गयी, पानी बन गयी तो उसे ही जल धातु कहें, भाप बनकर हवा बन गयी तो उसे वायु धातु कहें और तीनों ही अवस्था में उसमें तापमान है, सर्द है, गर्म है तो उसे अग्नि धातु कहें।

इसी प्रकार भीतर भी हमें धातुओं की अनुभूति होती है। उसे साक्षीभाव से देखें। यह शरीर का रसायन है। इसमें कभी इस प्रकार के कलाप, कभी उस प्रकार के कलाप अपने-अपने गुण, धर्म, स्वभाव लिये हुए उत्पन्न होते हैं, नष्ट होते हैं। प्रकट होते हैं जाने के लिए ही। प्रकृति के इस खेल को, इस प्रपंच को समझें। यदि इसे भोगने

लगेंगे तो राग और द्वेष के नए संस्कार बनने लगेंगे। अज्ञान है तो ही भोगते हैं। भोगते हैं तो ही बँधते हैं। ज्ञान जग जाय, बोधि जग जाय, बात समझ में आ जाय, तो यही खुलने का उपाय बन जाय।

हम यह भी समझें कि यह जो भिन्न-भिन्न स्वभाव के परमाणु प्रमुख होकर सामने आते हैं, उनका क्या कारण है ? बिना कारण संसार में कुछ नहीं होता। चार मोटे-मोटे कारण हैं इनके। एक मोटा कारण तो यह है कि इन परमाणुओं के पुंज को यानी अपने शरीर को हम भौतिक आहार देते हैं। जैसा भोजन देते हैं, आहार देते हैं, वैसे ही परमाणु बनेंगे। ज्यों-ज्यों संवेदनाओं को देखने में साधक पुष्ट होगा, यह बात अपने अनुभव से ठीक तरह से स्पष्ट होने लगेगी। किसी दिन यदि बहुत मिर्च-मसाले का भोजन कर लिया तो ध्यान के समय सारे शरीर में जलन महसूस होगी। आयी अग्नि धातु अपना प्रभाव लेकर। किसी दिन बासी भोजन कर लिया या तला हुआ गरिष्ठ भोजन कर लिया तो बहुत भारीपन महसूस होगा ध्यान के समय। यह पृथ्वी धातु का प्रकटीकरण है। यदि हम स्वस्थ भोजन करें तो शरीर के सारे परमाणु, शरीर का सारा गठन, सारी रचना भी स्वस्थ होगी। यदि अस्वस्थ भोजन करें तो शरीर की रचना भी अस्वस्थ होगी। जो आहार दे रहे हैं, वह शरीर में परमाणुओं की उत्पत्ति का एक मोटा कारण है।

शरीर में परमाणुओं के निर्माण का एक अन्य कारण भी है। इस भौतिक आहार के अतिरिक्त हम अपने शरीर के पोर-पोर से निरंतर आहार ग्रहण कर रहे हैं, जो हमें बाह्य वातावरण से मिलता है। जैसा बाहर का वातावरण होगा, वैसा ही आहार मिलेगा और वैसे ही भीतर परमाणु बनेंगे। हमारी इस शरीर-धारा को ये दो आहार मिलते ही रहते हैं। इस शरीर धारा यानी रूप-धारा के साथ एक अन्य धारा चित्त की यानी नाम की भी चलती है। यह चेतना की धारा भी बिना आहार के आगे नहीं चलती। इसे चेतना का ही आहार मिलता है। चेतना का यह आहार क्या है ? जिस क्षण हम जो संस्कार बनाते हैं,

चेतना की धारा का उस क्षण का वही आहार है, वही भोजन है। अनुभूतियों के स्तर पर इस सारे खेल को देखेंगे। क्रोध आया कि अगले क्षण का चित्त उसी क्रोध की संतान होगा। अगले क्षण फिर क्रोध का संस्कार जागा। यों इस क्रोध के आहार पर यह चित्त-धारा चलती रही। वासना जागी तो देर तक वासना के आधार पर ही चित्त-धारा आगे बढ़ती रही। प्रतिक्षण यही होता रहा। इसे प्रतिक्षण आहार चाहिए बढ़ने के लिए। यदि नया आहार नहीं मिला, नया संस्कार नहीं बनाया गया तो पुराने संस्कार जो भरे पड़े हैं, वे उखड़ने लगते हैं। पुराने जो बीज डाले हैं, उनमें से कोई-न-कोई पककर फल देता है। चित्त-धारा पर फल आता है, और चित्त-धारा फिर आगे चलने लगती है। और ज्योंही फल उभरकर आता है, उसमें एक प्रकार की संवेदना पैदा होती है। यदि हमने उसे प्रिय मान लिया तो फिर बना लिया राग का नया संस्कार। अप्रिय मान लिया तो फिर बना लिया द्वेष का नया संस्कार। ज्योंही पुराने बीज का फल उभरकर आया त्योंही नए बीज डालने लगे। इस प्रकार नए संस्कार बनाते ही चले जाते हैं– **'सङ्खार पच्चया विञ्ञाणं'**। इस क्षण के संस्कार से ही अगले क्षण का विज्ञान यानी चित्त उत्पन्न होता है। इस क्षण संस्कार न बने तो किसी पूर्व संस्कार से नया विज्ञान यानी चित्त उत्पन्न होता है। जैसे-जैसे साधना में आगे बढ़ेंगे, यह सारा रहस्य स्पष्ट होने लगेगा। जिस प्रकार का नया संस्कार डालेंगे अथवा पुराने का फल जागेगा, उसी प्रकार के परमाणु उत्पन्न होने शुरू हो जायेंगे और वैसी ही संवेदना होगी।

मन और शरीर का बड़ा गहरा संबंध है। ये जो कलाप हैं, वे शरीर और चित्त दोनों से उत्पन्न होते हैं। यदि चित्त पर क्रोध आया तो शरीर में अग्नि प्रधान परमाणु बन रहे हैं, जले जा रहे हैं। भय आया तो सारा शरीर कंपित हो रहा है, वायु प्रधान परमाणु उत्पन्न होते हैं। चित्त पर जैसे संस्कार डाल रहे हैं, वैसे ही परमाणु उत्पन्न होते हैं। यदि क्रोध का कोई पुराना संस्कार जागा हो तो जलन वाले परमाणु ही उठते हैं। वर्तमान वातावरण में सर्दी हो तो भी शरीर में जलन, गर्मी महसूस होती है।

शरीर में जो परमाणु उत्पन्न हो रहे हैं वे चाहे भोजन के कारण हों, बाह्य वातावरण के कारण हों या पुराने संस्कारों के कारण हों, यदि उन्हें द्रष्टाभाव से, तटस्थभाव से देखने लगेंगे तो नए संस्कार नहीं बनायेंगे। पुराने दूर होने लगेंगे। बस गांठें खोलने का रास्ता मिल गया। अबतक जो अविद्या के कारण संस्कार बनते थे, उनका सारा रहस्य समझ में आने लगेगा। **'अविज्जा-पच्चया सङ्खारा'**। जैसे कोई परमाणु उठा, उसने अपना स्वभाव प्रकट किया किसी संवेदना के रूप में– दुखद संवेदना हो तो प्रतिक्रिया हुई नहीं चाहिए, नहीं चाहिए; द्वेष-ही-द्वेष की। सुखद संवेदना हो तो चाहिए-चाहिए की; राग-ही-राग की– इस प्रकार प्रतिक्षण संस्कार बनते ही रहते हैं। बात समझ में आ जाय तो प्रतिक्रिया न करें। धीरज से, समता, से द्रष्टाभाव से, संवेदना के स्वभाव को देखें तो नया संस्कार बन ही नहीं सकता और पुराने संस्कारों का क्षय होने लगता है। **'खीणं पुराणं नवं नत्थि संभवं'**। बस काम की बात हो गयी। बंधन खोलने का तरीका मिल गया। लेकिन बँधन खोलने का यह कार्य स्वयं को ही करना पड़ेगा। यदि स्वयं अनुभूति के स्तर पर यह जाना ही नहीं कि कब राग जागा, कब द्वेष जागा तो राग और द्वेष से छुटकारा कैसे मिलेगा ? जब-जब संवेदना का अनुभव हो– सुखद या दुखद और उसे जानें तथा द्रष्टाभाव बनाये रखें तो उसके प्रति राग नहीं जागेगा, द्वेष नहीं जागेगा। प्रज्ञा ही जागेगी। **'वेदना-पच्चया पञ्ञा'**। यों प्रज्ञा में पुष्ट होते-होते स्थितप्रज्ञ हो ही जायेंगे। जीवन्मुक्त हो ही जायेंगे। केवल स्थितप्रज्ञता का पाठ करने से मुक्त नहीं होंगे। स्वयं परिश्रम करना होगा। रास्ते में कठिनाइयां अवश्य आयेंगी। लेकिन उन्हें हमें ही दूर करना है। कोई चमत्कार नहीं होने वाला।

इस अज्ञान के, मूढ़ता के, बुद्धि-विलास के स्वभाव को कैसे बनाया ? बार-बार एक ही प्रकार का व्यवहार करते-करते स्वभाव बन गया। राग पैदा करने का स्वभाव, द्वेष पैदा करने का स्वभाव। इस स्वभाव को पलटने में भी तो समय लगेगा ही। लेकिन जब यह मालूम हो जाय कि स्वभाव पलटा जा सकता है तो बहुत बड़े लाभ की बात

हो जाय। फिर तो स्वभाव को पलटने का अभ्यास करना है और यही कर रहे हैं। किसी घटना के घटने पर, अंध-प्रतिक्रिया करने के बजाय, देखने का अभ्यास कर रहे हैं। जब समता भरे भाव से देखने लगेंगे तो अंध-राग, अंध-द्वेष पैदा नहीं होगा। समता में स्थिर हैं तो क्रिया करेंगे, प्रतिक्रिया नहीं होगी। क्रिया हमेशा रचनात्मक होती है, विधेयात्मक होती है, कल्याणकारिणी होती है।

अपने स्वभाव के पलटने के अभ्यास में समय लगेगा। कठिनाइयां आयेंगी, बाधाएं आयेंगी। उन्हें स्वीकार करना होगा। हमारे इस प्रयत्न में पांच बड़ी बाधाएं हैं, पांच बड़े दुश्मन हैं। उन्हें पहचानें। उनके प्रति सजग रहें। बाहर के दुश्मन होते तो सजग रहना आसान हो जाता। लेकिन ये पांचों भीतर के दुश्मन हैं। न जाने कब सिर पर सवार हो जायँ, पता ही नहीं लगता।

पहला दुश्मन है **राग,** दूसरा **द्वेष**। हम साधना कर रहे हैं राग और द्वेष निकालने की, लेकिन नासमझी में साधना करते-करते राग और द्वेष में ही उलझने लगते हैं। हमें अमुक-अमुक संवेदना चाहिए, अमुक-अमुक संवेदना नहीं चाहिए। यही राग-द्वेष में उलझना है। इससे बचना चाहिए। अन्य दो दुश्मन हैं – **आलस्य** और **बेचैनी**। साधना करते समय बड़ा आलस्य आने लगता है, नींद आने लगती है। कभी बड़ी बेचैनी होती है। साधना में मन ही नहीं लगता। साधना के अलावा अन्य काम करने को जी चाहता है और साधक दिन भर अन्य प्रकार की प्रवृत्तियों में उलझा रहता है। अन्य काम करेगा, पर साधना नहीं करेगा। पांचवां दुश्मन है – **संदेह**। मन में विचार उठेगा कि यह क्या साधना है ? सांस को देखो, सांस को देखो ! क्या देखें सांस को ? सांस तो आती-जाती ही है। फिर गर्मी को देखो, सर्दी को देखो ! इन्हें क्या देखें ? ये तो मौसम की वजह से हैं। इस तरह मन में शंका होगी और साधना छूट जायेगी।

किसी बात को अंध-विश्वास से नहीं मानना है। साधना-विधि के बारे में मन में शंका उठे तो तत्काल मार्ग-दर्शक से मिलकर समाधान

करा लेना चाहिए। भले अनेक बार मिलें, पर अपनी शंकाओं का निवारण कर लें। इन पांचों दुश्मनों से बचें, सचेत और सजग होकर काम में लगे रहें।

तीन बात बंधन बँधे, राग द्वेष अभिमान।
तीन बात बंधन खुलें, शील समाधि ज्ञान॥

रोग समझ पाया नहीं, समझा नहीं निदान।
रोग भला कैसे मिटे? कैसे हो कल्याण?

दुक्ख समझ पाया नहीं, समझा नहीं निदान।
दुक्ख भला कैसे मिटे? कहां मोक्ष? निर्वाण?

तृष्णा जड़ से खोद कर, अनासक्त बन जायँ।
दुख-बंधन से छुटन का, यह ही एक उपाय॥

देखो अपने आपको, समझो अपना आप।
अपने को जाने बिना, मिटे न भव संताप॥

क्षण-क्षण जाग्रत ही रहे, शुद्ध सत्य का बोध।
मन की समता स्थिर रहे, तो ही दुक्ख-निरोध॥

सातवां दिन

साधना के सात दिन पूरे हुए। अब तो तीन ही दिन शेष रह गए हैं। अभ्यास की गहराई में उतरने के लिए तीन दिन भी पर्याप्त हैं।

इस मार्ग पर एक महत्वपूर्ण बात समझते हुए चलना चाहिए कि अभ्यास की निरंतरता ही सफलता की कुंजी है। जितनी-जितनी निरंतरता होगी, उतनी गहराइयों में उतरते चले जायेंगे।

जो काम कर रहे हैं, वह इतना सरल है, इतना सीधा है। कोई गूढ़ रहस्य नहीं है। कोई शरीर की कसरत भी नहीं है, जो एक सामान्य व्यक्ति न कर सके। सीधी-सी बात है। अपने सांस को देखना शुरू किया। सांस को देखते-देखते सांस का स्पर्श सामने आने लगा। सांस के स्पर्श को देखने लगे। फिर कोई संवेदना सामने आने लगी। संवेदना को देखने लगे। फिर शरीर के भीतर जो और सूक्ष्म अवस्थाएं हैं, उनकी अनुभूति होने लगी। यह निरंतरता का ही फल है। अनुभूतियों की और गहराइयों तक जाने के लिए, यह निरंतरता बहुत काम देती है। लेकिन पुरानी आदत के अनुसार हम किसी भी काम में आवश्यक निरंतरता देना ही नहीं चाहते। कुछ देर कर लिया, फिर छोड़ दिया। यदि साधना में भी यह बात होने लगी तो मन ऊपरी-ऊपरी सतह तक ही रह जायेगा। गहराइयों तक पहुँच ही नहीं पायेगा।

इसीलिए बात करने पर रोक लगाते हैं। आर्य-मौन दिया जाता है। क्या होता है यह आर्य-मौन ? जबान बंद कर दी तो केवल वाणी का मौन हुआ। आर्य-मौन में तो काया का भी, वाणी का भी और मन का भी मौन। तीनों को मौन करना है। निरंतरता बनाये रखने

के लिए आर्य-मौन आवश्यक है। वाणी और काया का मौन रखेंगे तो ही मन मौन होगा।

अब जो तीन दिन शेष बचे हैं– उनमें साधना की निरंतरता को बढ़ाना है। अब तो चौबीस घंटे मौन रहकर साधना ही करनी है। जितनी देर आंख बंद करके अभ्यास करने का समय है, उतनी देर अपने-अपने स्थान पर आंख बंद करके ध्यान करेंगे ही, बाकी जो छुट्टी का समय है– जब चल रहे हैं, स्नान कर रहे हैं, चाय-दूध ले रहे हैं, भोजन कर रहे हैं, तो जो कर रहे हैं, उसे जानेंगे और उसके साथ-साथ शरीर के जिस भाग में हलन-चलन हो रही है, उसकी संवेदना भी जानेंगे, अथवा आराम कर रहे हैं, बैठे हैं तो भी आंखें खुली हैं, पर जान रहे हैं कि भीतर क्या हो रहा है। मन सजग है, जागरूक है, सचेत है। जो हो रहा है, उसे जान रहे हैं। रात हुई, बिस्तर पर लेटे। रात सोने के लिए है। लेट गए, आंखें बंद कर लीं। लेकिन सोने के पहले शरीर में अनित्य बोध का चैतन्य फिर जगा लिया। चैतन्य रहते-रहते नींद आ गयी। अच्छी बात। सुबह आंख खुलेगी तो इस चैतन्य के साथ ही। बहुधा ऐसे भी होने लगता है कि लेटे हैं, भीतर का चैतन्य जाग रहा है। थोड़ी-सी नींद आ रही है, थोड़ी-सी जागृति है। ऐसा होते-होते सारी रात बीत जाती है। आधी-सी नींद, आधी-सी जाग। कभी-कभी तो पूरी जागृति में सारी रात बीत जाती है। नींद का नामोनिशान नहीं। लेकिन यदि सारी रात अनित्य-बोध के चैतन्य में जागते रहे तो जब सुबह उठेंगे, बड़ा हल्कापन महसूस होगा, जैसे गहरी नींद से उठे हैं।

हमने शरीर को लिटाए रखा और पूरा आराम दिया उसे। मन को भी आराम चाहिए। मन को इससे बढ़कर कोई आराम नहीं मिलता कि वह समता में स्थित रहे। जितना आराम एक गहरी नींद से प्राप्त होता है, उससे कहीं ज्यादा आराम उसे समताभरी जाग्रत अवस्था में प्राप्त होता है। इसीलिए कहते हैं, दुनिया सोती है, योगी जागता है। कैसे जागता है ? इस चैतन्य में ही जागता है। उसको नींद की जरूरत

नहीं होती। जो मन वर्तमान स्थिति को केवल द्रष्टाभाव से देख रहा है, उसे बड़ा आराम मिल रहा है। जो मन वर्तमान स्थिति से उत्तेजित हो रहा है, व्याकुल हो रहा है, अपना संतुलन खो रहा है, उसे शांति कहां। भारीपन आयेगा ही। यही तो साधना है कि मन का संतुलन न बिगड़ने दें। सारी स्थितियों को तटस्थ भाव से, द्रष्टाभाव से, देखते जायँ। परंतु जोर-जबरदस्ती जागने का प्रयत्न नहीं करेंगे। यदि कुदरतन नींद आती है तो आने देंगे। यदि अपने आप जाग बनी रहती है तो बनी रहने देंगे। निरंतर जागृति, निरंतर-जागृति, अंतःचेतना की जागृति। एक-एक अणु जो जाग्रत हो उठा है उसके नर्तन को देखेंगे। कहां क्या हो रहा है ? कैसे हो रहा है ? द्रष्टाभाव से देखेंगे। अनित्य स्वभाव को देखेंगे। यही साधना है।

इस अभ्यास में दो प्रमुख काम हैं। इनको ठीक से समझ लें। हमारा स्थूल मन स्थूल सच्चाइयों को खूब पकड़ लेता है, परंतु जहां सूक्ष्म को पकड़ना होता है, वहां कतराने लगता है। दूर भागता है। पकड़ना नहीं चाहता। सूक्ष्मता में रहने की आदत ही नहीं। अतः पहला काम तो यह कि इसे सूक्ष्मता में ले जाने का अभ्यास करवायें। इसीलिए आरंभ स्थूल आलंबन से किया। मोटे-मोटे सांस का आलंबन और उसके सहारे सूक्ष्म सांस पर आ गए। सूक्ष्म सांस भी बड़ा स्थूल लगने लगा, जब हमें सांस का स्पर्श मालूम होने लगा। यह स्पर्श भी स्थूल लगने लगा, जब संवेदना महसूस होने लगी। यह संवेदना भी स्थूल लगने लगी, जबकि उससे भी अधिक सूक्ष्म सच्चाइयां महसूस होने लगीं। जैसे-जैसे समय बीतेगा और अभ्यास में पुष्ट होने लगेंगे, अधिक-से-अधिक गहराइयों में चले जायेंगे। यह जो स्थूल अवस्था से सूक्ष्म अवस्था की ओर जाने की यात्रा है, वह यथार्थ की यात्रा है, कल्पनाओं की नहीं। ऐसा यथाभूत जिसका शरीर और मन से संबंध है और जो शरीर और मन में वस्तुतः हो रहा है, उसे जान रहे हैं। यह पहला काम हुआ।

दूसरा इससे बड़ा काम है समता का। हर अवस्था में से मन गुजर रहा है। अलग-अलग अनुभूतियों में से मन गुजर रहा है और

उन अवस्थाओं को, उन अनुभूतियों को, द्रष्टाभाव से देख रहा है। ज्ञाताभाव से जान रहा है। उन परिस्थितियों को, उन अनुभूतियों को न तो अच्छा मानकर खुशियों से नाचने लगता है, न बुरा मानकर व्याकुल होने लगता है। अपना संतुलन कायम रखता है। समता बनाए रखता है। यह समझते हुए कि जो अनुभूति हो रही है, वह स्थायी नहीं है, स्थिर नहीं है, शाश्वत नहीं है, ध्रुव नहीं है। जो सुबह हो रहा था, वह शाम को नहीं है। इतना ही नहीं, सूक्ष्म स्तर पर देखता है कि प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है। तन-मन में कहीं कुछ ऐसा नहीं है, जो स्थिर है, अचल है। जरा-सा प्रकंपन भी है तो इसी बात का द्योतक है कि उसमें कोई परिवर्तन हो रहा है। कहीं स्थायित्व नहीं है। सारा ऐंद्रिय जगत अनित्य है, नश्वर है, भंगुर है।

जो कुछ बाहर या भीतर सघन रूप में दिखायी देता है, वह वास्तव में सघन नहीं है, ठोस नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि सारा शरीर ठोस है। शरीर के साथ मन की बड़ी आसक्ति है। यह मैं है मेरा है। बड़ी गहन अवस्थाओं में अर्ध-चेतन, अचेतन मन इस शरीर की इन ठोस अवस्थाओं के साथ इस कदर हिल-मिल गया है कि सच्चाई को जान ही नहीं पा रहा। तादात्म्य स्थापित हो गया है। इस साधना के द्वारा जैसे-जैसे इन गहराइयों में जाते हैं, यह तादात्म्य टूटता है, तो सारा ठोसपना समाप्त होने लगता है, बिखरने लगता है। जबतक यह घनसंज्ञा है, घनत्व की संज्ञा है, तबतक भ्रांति रहती ही है। यह भ्रांति कैसे टूटे ? विशृंखलित कर-करके, विश्लेषण कर-करके, टुकड़े-टुकड़े कर-करके सच्चाई को जाने, प्रकट सत्य का भेदन कर परमार्थ सत्य को जाने। परमाणुओं का परमार्थ सत्य क्या है ? एक स्थान पर बार-बार कुछ-कुछ देर तक ध्यान करेंगे तो देखेंगे कि वह ठोस-से-ठोस स्थान किस तरह खुलता चला जा रहा है। केवल सूक्ष्म-सूक्ष्म प्रकंपन रह गया है। सारा ठोसपना समाप्त हो गया है। इस प्रकार भौतिक पदार्थ के ठोसपने को समाप्त करके हम उसके सही स्वरूप को देख पाते हैं। उसका यथार्थ दर्शन करते हैं।

जैसे शरीर, वैसे मन। हम यह भी देख पाते हैं कि किस प्रकार यह मन या चित्त की वृत्तियां भी ठोस होकर, घनीभूत होकर प्रकट होती हैं और हमारे सिर पर सवार हो जाती हैं। पीड़ा आती है। पीड़ा शरीर की ही नहीं, पीड़ा मन की है। पीड़ा मन को हो रही है। हर सजीव प्राणी के साथ जो विज्ञान है, चेतना है, वह पीड़ा को महसूस करता है। यह पीड़ा जो चित्त की एक वृत्ति है, उसे विश्लेषण करके देखेंगे। कैसी पीड़ा है ? देखूं तो सही। कहां तक है ? कहां अधिक है, कहां कम है ? इसका प्रभाव कहां-कहां है ? पीड़ा को भोगने के बजाय, द्रष्टाभाव से देखने लगेंगे। उसका विश्लेषण करेंगे, टुकड़े-टुकड़े करेंगे। बस जहां टुकड़े होने लगे, घनत्व नष्ट होगा। भोक्ताभाव न रहे, द्रष्टाभाव हो। जैसे यह दूसरे की पीड़ा है, मैं तो इसे महज देख रहा हूं। द्रष्टा बना कि टुकड़े हुए। भोक्ता बनकर आसक्त हुआ कि फिर घनीभूत हो गई। फिर डूब गया इस संगठन की माया में, संश्लेषण की माया में, घन-संज्ञा की माया में। कैसे इससे बाहर निकलें ? केवल बौद्धिक स्तर पर समझ कर आजतक कोई बाहर निकला नहीं। कोई द्रष्टा बना नहीं। व्यवहार के क्षेत्र में, अभ्यास के क्षेत्र में, बाहर निकलना होगा।

चाहे चित्त हो, चित्त की वृत्ति हो या शरीर हो, जब उसके टुकड़े-टुकड़े करके देखने लगेंगे तो वे इतने सूक्ष्म अवस्था में सामने आयेंगे कि उनका यथार्थ दर्शन होने लगेगा। उनका सही स्वभाव समझ में आने लगेगा। तब 'मैं-मेरे' का भाव स्वतः नष्ट होने लगेगा। उनके साथ आसक्ति टिक ही नहीं सकेगी। ज्यों-ज्यों आसक्ति से निकलते चलेंगे, दुख से निकलते चलेंगे। आसक्ति ही तो दुख है। लेकिन यह सारी बात अभ्यास से ही होगी। अभ्यास ही सच्चाई का दर्शन करायेगा, बुद्धि-विलास नहीं। बुद्धि के स्तर पर समझने के लिए चर्चा की जा सकती है, पठन-पाठन किया जा सकता है, लेकिन यह सब हो अभ्यास में उतरने के लिए ही। तभी लाभ होगा।

कल हमने देखा कि इस अभ्यास के करने में पांच तरह की

बाधाएं आती रहती हैं और अभ्यास में रुकावट पैदा करती रहती हैं। इन पांच दुश्मनों की बातें सुनकर मन में निराशा न आ जाय। हमारे साथ पांच बड़े दोस्त भी हैं। वे बड़े बलशाली हैं। इन पांचों दोस्तों को भी समझें। इनको बलवान बनाये रखें, इनको सदा साथ रखें। खूब प्रगति होगी।

पहला मित्र, जो हमें आगे बढ़ने में सहायक होता है, वह है **श्रद्धा**। श्रद्धा बहुत बड़ा बल है, आवश्यक बल है। कोई व्यक्ति किसी विधि का अभ्यास करना चाहे, यदि उसके मन में उस विधि के प्रति श्रद्धा न हो, विश्वास न हो, भरोसा न हो, तो वह एक कदम भी नहीं चल सकता। श्रद्धा तो अभ्यास की आधार-शिला है। लेकिन हमें यह ध्यान रखना है कि जो श्रद्धा पैदा की वह अंध-श्रद्धा में न बदल जाय। जो विश्वास पैदा किया, वह अंध-विश्वास में न बदल जाय। भक्ति और अंध-भक्ति में, श्रद्धा और अंध-श्रद्धा में, विश्वास और अंध-विश्वास में, जो विभाजन-रेखा है वह इतनी सूक्ष्म है कि नजर ही नहीं आती। इसलिए हमें अत्यंत सावधान रहना होगा। जबतक श्रद्धा के साथ विवेक है, ज्ञान है, समझ है, तबतक अंध नहीं है। अतः फलदायी है। श्रद्धा आखें हैं, विवेक चरण। दोनों का समन्वय, सहयोग, बड़ा आवश्यक है। किसी देवी-देवता के प्रति, ब्रह्मा के प्रति, भक्ति हो तो बहुत अच्छी बात है, यदि वह भक्ति अपने आराध्य के गुणों की याद दिलावे और उन्हें धारण करने की प्रेरणा दे। यदि भक्ति केवल कामनाओं को पूर्ण करने की लालसा के लिए हो, तो वही बंधन का कारण बन जायेगी। न धर्म रहा, न ज्ञान, तो ऐसी भक्ति अंध-भक्ति बन जायेगी। ऐसी भक्ति हानिकारक ही होगी। इसलिए खूब अच्छी तरह से समझ लें कि श्रद्धा यदि विवेक के साथ है, समझ के साथ है, सम्यक-दृष्टि के साथ है, तो हमारा खूब कल्याण करती है और यदि मिथ्या-दृष्टि के साथ है, तो कल्याण करना तो दूर रहा, हानि ही करती है।

हमारा दूसरा मित्र **वीर्य** है, यानी प्रयत्न, प्रयास, पुरुषार्थ,

पराक्रम। हममें खूब श्रद्धा है, लेकिन श्रद्धा के साथ यदि उस कल्याणकारी मार्ग पर चलने का प्रयत्न नहीं करते हैं तो कैसे लाभ होगा ? हमें दृढ़ता के साथ, निरंतरता के साथ, बताई हुई विधि के अनुसार, मार्ग पर चलना है। गलत तरीके से अभ्यास करेंगे तो सही फल कैसे मिलेगा ! सही तरीके से अभ्यास करना होगा, तभी फलदायक होगा, कल्याणकारी होगा। यह हमारा दूसरा बल है।

हमारा तीसरा मित्र **स्मृति** है। स्मृति का अर्थ याददाश्त न समझें। उन दिनों की साधना के क्षेत्र में स्मृति शब्द का अर्थ होता था जागरूकता, सावधानता। सावधानता और जागरूकता वर्तमान के प्रति हुआ करती है, भूतकाल के प्रति नहीं। भविष्य के प्रति नहीं। भूतकाल की तो याद आ सकती है। भविष्यकाल की कल्पनाएं, कामनाएं हो सकती हैं। सावधानता वर्तमान की ही होगी। यह अभ्यास ही वर्तमान में जीने का अभ्यास है। वर्तमान के क्षण-क्षण के प्रति जागरूक रहने का अभ्यास है। भूतकाल के संस्कारों से, यादों से, भविष्यकाल की कल्पनाओं से, कामनाओं से, हटने का अभ्यास है। सांस को देख रहे थे तो वर्तमान स्थिति को देख रहे थे। सांस के स्पर्श को देखने लगे तो वर्तमान स्थिति को ही देखने लगे। अब संवेदनाओं को देख रहे हैं तो सारे शरीर में जो वर्तमान की यथाभूत स्थिति है, उसे ही देख रहे हैं। आगे के लिए कोई कामना लेकर काम नहीं कर रहे। पीछे की किसी याददाश्त में नहीं डूब रहे। जितना हो सकता है, इस वर्तमान के, यथाभूत के साथ चल रहे हैं। यही स्मृति हमारा तीसरा बड़ा मित्र है, बल है।

हमारा चौथा मित्र **समाधि** है। यह जो प्रत्येक वर्तमान क्षण के प्रति जागरूकता है वह बराबर बनी रहे। हम इस क्षण के प्रति जागरूक हैं। अगला क्षण ज्योंही वर्तमान का क्षण बनता है, उसके प्रति जागरूक हैं। इस प्रकार क्षण-क्षण, प्रतिक्षण लंबे अर्से तक, जागरूकता बनी रहे, यही सम्यक समाधि है, जोकि हमारा चौथा बड़ा मित्र है।

हमारा पांचवां बड़ा मित्र है **प्रज्ञा**। सारे मैल को काटने वाली

तो यह प्रज्ञा ही है। सारे दुखों को दूर करने वाली तो यह प्रज्ञा ही है। बाकी तो सारे सहायक हैं। साथ दे रहे हैं कि हम प्रज्ञा तक पहुँचें, मैल काटना शुरू कर दें। बंधन काटना शुरू कर दें। क्या प्रज्ञा है ? सभी स्थितियों में चित्त का संतुलन बिगड़ने न दें। समता बनाए रखें। जिंदगी में उतार-चढ़ाव आते ही रहेंगे। भीतर भी आ ही रहे हैं। यह सारा भीतर का अभ्यास इसलिए कर रहे हैं कि समता पुष्ट करें। भिन्न-भिन्न स्थितियां हमारे सामने आ रही हैं– कभी सुखद संवेदना जागती है, कभी दुखद। सुखद संवेदना जागती है तो अच्छा मानकर उसके प्रति राग-रंजित नहीं हो जाते। दुखद संवेदना जागती है तो बुरी मानकर उसके प्रति द्वेष-दूषित नहीं हो जाते। दोनों परिस्थितियों को समत्वभाव से देखते हैं। मन की समता नहीं बिगड़ने देते। समझते हैं कि दोनों ही अनित्य हैं। द्रष्टा-भाव से उसके इस अनित्य-स्वभाव को ही देखते हैं। यही विपश्यना का अभ्यास है। यही प्रज्ञा है। प्रज्ञा हमारा पांचवां बड़ा बल है।

यदि ये हमारे पांच मित्र, पांच बल, साथ रहेंगे तो कोई भी दुश्मन हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। प्रगति होती ही जायेगी। आगे बढ़ते ही जायेंगे। चित्त को निर्मल करते ही जायेंगे।

शील धर्म की नींव है, ध्यान धर्म की भींत।
प्रज्ञा छत है धर्म की, मंगल भवन पुनीत॥

जीवन में आते रहें, पतझड़ और बसंत।
दोनों में समता रहे, होय दुखों का अंत॥

मानव का जीवन मिला, धर्म मिला अनमोल।
अब श्रद्धा से जतन से, अपने बंधन खोल॥

श्रद्धा तो जागे मगर, छूटे नहीं विवेक।
श्रद्धा और विवेक से, मंगल जगें अनेक॥

जप-तप व्रत उपवास के, साधन जुटे अनेक।
साधन ही बाधक बने, छूटा ज्ञान विवेक॥

कितने दिन बिरथा गये, करते वाद-विवाद।
अवसर आया धर्म का, चाख धर्म का स्वाद॥

आठवां दिन

आज हमारी साधना के आठ दिन पूरे हुए। अब बहुत थोड़ा समय बचा है। इसका भरपूर लाभ लेने के लिए भरपूर श्रम करना होगा।

श्रम करने के लिए ही तो आए हैं। तपने के लिए, पुरुषार्थ करने के लिए ही तो आए हैं। जो शाम की धर्म-चर्चा होती है, वह वाणी-विलास और बुद्धि-विलास का विषय न बन जाय। जिज्ञासुभाव से, मुमुक्षुभाव से, धर्म की इस विधि को, धर्म धारण करने के तरीके को, ठीक तरह से समझने के लिए ही इस धर्म-चर्चा का प्रयोग हो। मुख्य बात तो धर्म धारण करना है। धर्म धारण करने के लिए अभ्यास करना होता है, प्रयास करना होता है। कैसे प्रयास करें ? विधि को ठीक से समझ-समझ कर प्रयास करें तो प्रयास लाभदायक होगा।

आओ, फिर समझें, कैसी है यह साधना ? क्या है यह विधि ? भीतर की सच्चाई को जानना है और जानकर समता में स्थित रहना है। कभी-कभी साधक को एक भ्रांति हो जाती है। जो संवेदना मिल रही है, उसका मूल्यांकन करने लगता है। मूल्यांकन करता है तो उसी को प्रगति का मापदंड मान लेता है। एक प्रकार की संवेदना मिलती है तो मान बैठता है कि साधना बहुत ऊंची है, अन्य प्रकार की संवेदना मिलती है तो मान बैठता है, साधना बहुत नीची है। गलत मापदंड हो गया। साधना का सही मापदंड तो यह है कि जो संवेदना प्रकट हो रही है, उसे जान रहे हैं और जानकर कितनी समता में स्थित रहते हैं। प्रगति का यथार्थ मापदंड **समता** है, संवेदना नहीं।

अंतर्मन की गहराइयों में जो कुछ एकत्र कर रखा है, उसे निकाल बाहर करने की ही तो साधना है। कितने लंबे अर्से से एकत्र

ही करते आए हैं। न जाने कैसे-कैसे कर्म-संस्कार इकट्ठे कर रखे हैं। इस साधना द्वारा न जाने किस समय कौन-सा संचित कर्म-संस्कार अंतर्मन की गहराइयों से उभरकर सतह पर आए, उसकी उदीर्णा हो। जिस प्रकार का कर्म-संस्कार होगा, उदीर्णा होने पर उसी प्रकार की संवेदना होगी। सुखद हो सकती है, दुखद हो सकती है, स्थूल हो सकती है, सूक्ष्म हो सकती है। कौन-सा संस्कार उभरकर सामने आया, उससे नहीं मापा जाता कि प्रगति हो रही है कि नहीं हो रही है। जो भी संस्कार उभरकर सामने आया हमने उसे कैसे देखा ? समता से देखा या समता खो दी ! संवेदना के प्रकट होने पर यदि समता खो दी, फिर राग पैदा करना शुरू कर दिया, द्वेष पैदा करना शुरू कर दिया, तो प्रगति नहीं हो रही।

पुरानी आदत के अनुसार, पुराने स्वभाव के अनुसार, यदि राग या द्वेष की प्रतिक्रिया हो भी जाय तो देखना यह है कि कितनी जल्दी फिर होश में आ गए। फिर संवेदना को देखने लगे, समता के साथ। चित्तधारा पर राग का आरंभ, द्वेष का आरंभ होने ही न दें और यदि आरंभ हो गया तो जल्दी-से-जल्दी उसे फिर रोक दें, संवर कर लें– यही साधना है।

किस प्रकार की संवेदना कब प्रकट होगी, इसका कोई निश्चय नहीं। इससे हमें कुछ लेना-देना भी नहीं। बहुत बार ऐसा होने लगता है कि शरीर में एक जैसी सूक्ष्म-सूक्ष्म संवेदनाओं की धारा बहने लगती है। धाराप्रवाह अनित्य-बोध की अनुभूति होने लगती है। कहीं कोई स्थूलता नहीं, ठोसपना नहीं, सघनता नहीं, और एकाएक गहरा आपरेशन हुआ कि अंतर्मन की गहराइयों से कुछ उभरकर आया। शरीर के किसी अंग पर मूर्छा-सी छा गयी। किसी अंग पर कोई स्थूल संवेदना जाग पड़ी, फिर कुछ घनीभूत होने लगा। ऐसे हो तो घबराना नहीं है। उसे ही साक्षीभाव से देखना शुरू कर देंगे। देखते-देखते उसका विघटन होता ही जायेगा, उसका विश्लेषण होता ही जायेगा। टुकड़े-टुकड़े होते-होते सघनता दूर होगी ही। फिर धारा-प्रवाह की अनुभूति होने लगेगी।

तदुपरांत फिर कोई और संचित संस्कार उभरकर ऊपर आ सकता है। जबतक भीतर संग्रह है, तबतक यह उभार आयेगा ही। संग्रह तो है ही। अतः जब-जब उभर कर ऊपर आये, तब-तब अपनी ओर से संवर कर लें, रोक लगा दें, यानी उभार की वजह से नया संस्कार न बनने दें। यही संवर है।

ज्योंही संवर किया यानी रोक लगा दी कि प्रकृति का, कुदरत का विधान, नियम अपने आप काम करने लगता है। संवर किया कि निर्जरा होनी शुरू हो जायेगी। संवर करते ही किसी अन्य संस्कार का फल उभरकर ऊपर आयेगा, उदीर्णा होगी। देखेंगे उसे समता से तो उसकी भी निर्जरा हो जायेगी। उसका क्षय हो जायेगा। संवर करना प्रमुख है, लेकिन संवर ऊपर-ऊपर का नहीं होना चाहिए। ऊपरी-ऊपरी संवर से इतना ही लाभ होगा कि शरीर और वाणी के दुष्कर्मों से बच जाएंगे। लेकिन अंतर्मन में मैल बनाने का जो स्वभाव हो गया है, उस पर रोक लगानी आवश्यक है। भीतर-ही-भीतर अंतर्मन की गहराइयों में मैल पैदा करने की जो प्रक्रिया है, उस पर रोक लगानी होगी, नहीं तो मैल का संवर्धन होता ही जायेगा। इसलिए संवर अंतर्मन की गहराइयों तक होना चाहिए।

वैसे आंखों का संवर बहुत अच्छा है, कल्याणकारी है। कानों का संवर, नाक का संवर, जीभ का संवर, काया का संवर, वाणी का संवर बहुत अच्छा है, कल्याणकारी है। पर सारे संवरों में अच्छा मन का संवर है और वह भी संपूर्ण मानस का संवर, अंतर्मन की गहराइयों तक का संवर। यह जो भी कुछ भीतर-भीतर संवेदनाएं हो रही हैं, इसकी अनुभूति अचेतन मन को, अर्धचेतन मन को, होती ही रहती है और परिणामस्वरूप अन्दर-ही-अन्दर प्रतिक्रिया भी होती रहती है। इससे चित्तधारा पर राग और द्वेष पैदा होता रहता है। और चेतन मन को इस प्रक्रिया का पता ही नहीं रहता। अतः केवल चेतन चित्त तक का संवर इस पर रोक नहीं लगा सकेगा। ज्यों-ज्यों समता में रहने का अभ्यास बढ़ेगा, चेतन, अर्धचेतन और अचेतन मन के बीच की दीवारें

टूटेंगी। जो कुछ भीतर हो रहा है, सब मालूम होने लगेगा और समग्र मानस समता में रहना सीखेगा, अतः समग्र मानस में संवर होगा।

यह गहरा संवर अंतर्मन की गहरी ग्रंथियों को काटता है। यह बात महज इसलिए नहीं माननी है कि किसी महापुरुष ने कही है या किसी शास्त्र में लिखी है। अपनी अनुभूतियों से जानना है और जानकर मानना है, तो ही मंगल सधेगा। प्रकृति के इस नियम को अनुभूतियों से समझेंगे तो स्वतः कल्याण सधने लगेगा। जब अनुभूतियों के स्तर पर समझ में आने लगता है, तब सचमुच गहरा संवर होने लगता है। दुखविमुक्ति का रास्ता खुलने लगता है। ठीक ही कहा गया है :–

'अनिच्चावत सङ्खारा उप्पादवयधम्मिनो।
उपज्जित्वा निरुज्झन्ति, तेसं वूपसमो सुखो॥'

सचमुच सारे संस्कार अनित्य हैं, उत्पन्न होते हैं, नष्ट होते हैं– उत्पाद-व्यय, उत्पाद-व्यय। यही इनका धर्म है। यह ध्रुव धर्म है। यह बदलनेवाली प्रक्रिया कभी नहीं रुकती। परिवर्तनशीलता ही इसका नित्य स्वभाव है, लेकिन बहुत गहराइयों में जाकर देखेंगे तो मालूम होगा कि उत्पाद होकर जो व्यय हुआ, बेहोशी की अवस्था में व्यय हुआ। अतः फिर उत्पाद का कारण बना। जिस कर्म-संस्कार का बीज डाला, उसका फल आया और समाप्त हुआ। लेकिन नया बीज फिर पड़ा, फिर फल आया। यों क्रम चलता रहता है। अंत होता ही नहीं। लेकिन यदि उत्पन्न होकर सर्वथा क्षय हो जाय तो कल्याण हो जाय। अंतर्मन में भरे संस्कारों की एक परत ऊपर आयी और उतरी तो वास्तव में उदीर्णा हुई। क्षय हुआ। **'तेसं वूपसमो सुखो'**। यों एक-पर-एक परत का उपशमन होता चला जाय, क्षय होता चला जाय। जितना-जितना उपशमन हो, उतना-उतना मुक्त हुआ दुखों से। उतना-उतना सुख आया। सारे ही संस्कारों का क्षय हो जाय तो परमसुख, निर्वाण, का साक्षात्कार हो जाय। **'निब्बानं परमं सुखं'**।

प्रकृति के दो मोटे नियम हैं, उन्हें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। एक तो संवर्धन का नियम है। बढ़ता है, बढ़ता है। विशदीकरण ही होता

रहता है। दूसरा, यदि रोक लगा दी जाय, तो घटने का नियम है। जब घटने का काम शुरू हो गया और नया बनना बंद हो गया, **'खीणं पुराणं नवं नत्थि संभवं'** तो धीरे-धीरे सारे पुराने संस्कार समाप्त हो जाते हैं। हर व्यक्ति, जिसने-जिसने भी सही माने में संवर करना शुरू कर दिया, उसी की कर्म-निर्जरा शुरू हो गयी। कितना भी कर्म-संग्रह क्यों न हो, अगर नया संग्रह करना बंद कर दें तो पुरानों को समाप्त होने में समय कम लगे या ज्यादा, पर समाप्त होंगे ही।

प्रकृति के इस नियम को जानने के लिए समझें कि यह चित्तधारा किस प्रकार बहती है। चित्तधारा को आगे बढ़ने के लिए प्रतिक्षण आहार चाहिए। नया संस्कार एक आहार है, पुराने संस्कारों का फल दूसरा आहार है। इन दोनों में से कोई-न-कोई आहार मिलता है तो यह चित्तधारा आगे बढ़ती है। बहुधा होता यह है कि चित्तधारा को जब हम एक आहार देते हैं, एक नया संस्कार डालते हैं तो रुकते नहीं। अगले क्षण फिर वैसा ही आहार देते हैं। यों क्षण-प्रतिक्षण आहार देते चलते हैं। किसी बात को लेकर क्रोध आया तो बड़ा नन्हा-सा क्षण होता है क्रोध का, पलक झपकने मात्र में कितने ही शत-सहस्त्र कोटि बार उत्पन्न होकर नष्ट होने वाला क्षण। लेकिन क्रोध का संस्कार पैदा करते ही अगले क्षण फिर क्रोध पैदा किया। अगले क्षण फिर क्रोध। यों ये क्रोध-ही-क्रोध के संस्कार इस चित्तधारा को देर तक आगे बढ़ाते चलते हैं। कभी तो घंटों क्रोध चलता रहता है। क्रोध रुका तो कोई और संस्कार बनाना शुरू कर देंगे। वह चलेगा देर तक। फिर कोई और – कभी भय, कभी वासना, कभी कुछ और। यों पुराने संस्कारों के नष्ट होने की बारी ही नहीं आती। क्षण-क्षण नया ही बनाए जा रहे हैं।

यदि हम संवर कर लें यानी रोक लगा दें तो नए संस्कार नहीं बनते। तब चित्तधारा किसके बल पर चलती है ? क्योंकि हमने नया संस्कार नहीं बनाया, तो कोई-न-कोई संस्कार-बीज, जिसका फल हो सकता है, कुछ देर बाद आने वाला हो, अब जल्दी पककर आयेगा।

इसे विपाक का त्वरितकरण कह सकते हैं। तुरंत कोई पुराना कर्म-संस्कार चित्तधारा पर अपना फल लेकर आता ही है। यही उदीर्णा है। आया कोई पुराना कर्म-संस्कार चित्तधारा पर, अपना फल लेकर और उसके सहारे चित्त-धारा आगे बढ़ने लगी। जैसा कर्म था वैसा ही फल आया। हम उसे समता से, प्रज्ञा से, देखने लगे तो हुआ निरोध उसका। जितने-जितने पुराने संस्कार क्षीण होते चले जाएंगे उतना-उतना हल्कापन आयेगा ही। सही माने में सुख आयेगा। दुखों से छुटकारा होगा।

विधि की पूर्णता इस बात में है कि अंतर्मन की गहराइयों में जो कुछ हो रहा है, उसे जानें और समता में रहें। यदि हम केवल ऊपरी-ऊपरी, सतही-सतही सच्चाई का अनुभव कर रहे हैं, तो ऊपरी सतह तक समता में रहे। यदि एक-एक कदम सूक्ष्मता की ओर बढ़ रहे हैं तो जिस-जिस स्तर तक पहुँचे उस-उस तक समता में रहे। यों अभ्यास करते-करते सारा मानस चेतन हो उठे तो सारे मानस पर समता स्थापित हो जाय।

अनुभूतियों से समझेंगे कि शरीर की संवेदनाओं का चित्त-धारा से क्या संबंध है? और चित्त-धारा का शरीर की संवेदनाओं से क्या संबंध है? किस प्रकार चित्त [माइंड] पदार्थ [मैटर] में और पदार्थ [मैटर] चित्त [माइंड] में परिवर्तित हो जाता है? क्रोध जागा और शरीर में अग्नि-प्रधान परमाणु उत्पन्न होने लगे। भय जागा, वायु-प्रधान परमाणु उत्पन्न होने लगे और उनकी संवेदना शरीर में होने लगी। शरीर में जलन की संवेदना हो रही है या कंपन-धूजन की हो रही है। कितना गहरा संबंध है चित्त का शरीर के साथ! जिस प्रकार के नए संस्कार का निर्माण करते हैं, शरीर में उसी प्रकार की संवेदना का निर्माण करते हैं। जब पुराने संस्कार बाहर निकलेंगे तो संवेदना पैदा करके ही निकलेंगे। हर क्रोध के संस्कार ने अग्नि-तत्व प्रकट किया था। अब यदि पुराने क्रोध के संस्कार बाहर आ रहे हैं, तो पुनः अग्नि धातु ही जागेगी। गर्मी महसूस होगी। इस प्रकार उत्पन्न संवेदना को यदि हम समता से

देखते जायेंगे और प्रतिक्रिया नहीं करेंगे, तो ये संग्रहीत संस्कार स्वतः क्षीण होते चले जायेंगे। अतः प्रमुख समता है।

एक बार कुछ लोग भगवान के पास पूछने आये कि भगवान! हमारा सही मंगल किस बात में है ? भगवान ने उन्हें मंगल-धर्म समझाये। गृहस्थों के लिए अड़तीस मंगल-धर्म सिखाये। पहले से अगला उत्तम। इस तरह समझाते-समझाते अंतिम मंगल-धर्म पर पहुँचे तो कहा : –

'फुट्ठस्स लोकधम्मेहि, चित्तं यस्स न कम्पति।
असोकं विरजं खेमं, एतं मङ्गलमुत्तमं' ॥

लोक-धर्म का स्पर्श होने पर – क्या हैं लोक धर्म ? जीवन के ये ही उतार-चढ़ाव, बसंत-पतझड़ – सुख-दुख, यश-अपयश, लाभ-हानि, जय-पराजय – यही हैं लोक-धर्म। इनका स्पर्श होने पर जिसका चित्त कंपायमान नहीं होता, डांवाडोल नहीं होता, समता में रहता है, **'असोकं'** शोक-रहित रहता है, **'विरजं'** विरज विमल रहता है, **'खेमं'** योग-क्षेम से भरपूर रहता है, अगले क्षण के लिए निश्चिंत रहता है, पूर्ण सुरक्षित महसूस करता है, यों समता में रहता है तो उत्तम मंगल सधने लगता है।

कैसे समता का जीवन जिएं ? ऊपर से दमन करके नहीं। भीतर से समता आनी शुरू हो, ताकि ऊपर उसका प्रभाव प्रकट होने लगे। यदि गलती हुई भी, समता टूटी भी, चित्तधारा विषम हो भी गयी, तो कितनी जल्दी पुनः होश आ गया, पुनः समता में स्थित हो गए। इसी का अभ्यास करना है। शनैः-शनैः ही सुधार होता है। शनैः-शनैः ही दुख-विमुक्ति होती है। पुराना कितना संग्रह है, इस पर निर्भर है। किसी के पास कम संग्रह है, वह जल्दी खत्म कर लेगा। यदि संग्रह ज्यादा है तो अधिक देर तक परिश्रम करके समाप्त करना होगा। सही तरीके से जितना जितना संवर करेगा, उतना मुक्त होते ही चला जायेगा। किसी जाति का हो, किसी संप्रदाय का हो, काला हो या गोरा हो, फर्क क्या पड़ता है ? कुदरत का कानून सब पर समान रूप से लागू होता है। नाम चाहे जो हो – हिंदू हो, मुसलमान हो, जैन हो,

बौद्ध हो, ईसाई हो– वही प्रबुद्ध हो जायेगा तो अच्छा इंसान हो जायेगा। अच्छा हिंदू, अच्छा मुसलमान, अच्छा जैन, अच्छा बौद्ध, अच्छा ईसाई याने अच्छा आदमी बन जायेगा। धर्म अच्छा आदमी बनना सिखाता है। यह अच्छा आदमी बनने की विद्या है। अच्छे आदमी बनेंगे तो स्वयं भी सुख से रहेंगे औरों के भी सुख का कारण बनेंगे। कैसे सही माने में बोधि जाग जाय! प्रबुद्ध हो जायँ! कैसे सही माने में प्रज्ञा जाग जाय! सही माने में प्रज्ञा में स्थित हो जायँ! स्थितप्रज्ञ बन जायँ! अपनी अपनी मेहनत पर निर्भर करता है। हर आदमी अपना मालिक स्वयं है। अपनी गति खुद ही बनाता है।

'अत्ता ही अत्तनो नाथो, अत्ता ही अत्तनो गति'।

इस क्षण क्या संस्कार डाले, यह उसके अपने अधिकार में है। जो वीत गया सो बीत गया। उस पर कोई अधिकार नहीं। लेकिन यदि इस क्षण होश में है तो वह वर्तमान का मालिक बन गया। सारी साधना इसी बात के लिए है कि इस क्षण होश है कि नहीं। प्रतिक्षण बीज बोने का क्षण है। कैसा बीज बोते हैं ? यदि राग और द्वेष का बीज बो रहे हैं, तो अपने लिए दुख ही पैदा किये जा रहे हैं। कैसे इस दुख-चक्र को पलटें ? कैसे यह दुख-चक्र धर्म-चक्र में पलटे ? कैसे यह लोक-चक्र मुक्ति-चक्र में पलटे ? बौद्धिक स्तर पर भले सारी बात समझ में आ जाय, लेकिन बिना अभ्यास के जीवन में उतरती नहीं। दुख-चक्र बढ़ाने वाला स्वभाव पलटकर कैसे धर्म-चक्र में परिवर्तित हो, यह बिना अभ्यास के संभव नहीं होता। केवल कामना करने से या चमत्कार से स्वभाव नहीं पलटता। यदि हमें स्वभाव पलटना है तो अभ्यास करना ही होगा। अभ्यास यही करना होगा कि कैसे राग-द्वेष पैदा करना बंद करें। साधना इसीलिए है। इसे ठीक तरह से बौद्धिक स्तर पर समझ कर व्यवहार में उतारना है, अभ्यास में उतारना है। धारण करना है। धर्म धारण करते हैं तो ही सुख मिलता है। विधि के अनुसार ठीक-ठीक अभ्यास करें। सफलता अवश्य प्राप्त होगी।

धर्म हमारा ईश है, धर्म हमारा नाथ।
हम तो निर्भय ही रहें, धर्म हमारे साथ॥

राग सदृश ना रोग है, द्वेष सदृश ना दोष।
मोह सदृश ना मूढ़ता, धर्म सदृश ना होश॥

जितना गहरा राग है, उतना गहरा द्वेष।
जितना गहरा द्वेष है, उतना गहरा क्लेश॥

भोगत-भोगत भोगते, बंधन बँधते जायँ।
देखत-देखत देखते, बंधन खुलते जायँ॥

ज्यों-ज्यों अंतर्जगत में, समता बढ़ती जाय।
काया वाणी चित्त के, कर्म सुधरते जायँ॥

राग छुटे समता बढ़े, मिले परम संतोष।
दूर होंय बेचैनियां, मिले शांति-सुख-कोष॥

नौवां दिन

साधना के नौ दिन पूरे हुए। नौ दिन तक जो अभ्यास किया, उसे भलीभांति समझें। क्या किया ? ऐसे क्यों किया ? क्या लाभ है इसका दैनिक जीवन में ? यदि साधना का जीवन में उपयोग नहीं होता है तो यह भी कर्मकांड बनकर रह जायेगी, एक धार्मिक अनुष्ठान बनकर रह जायेगी। धर्म का लाभ इसी जीवन में मिलना चाहिए, तब तो धर्म धर्म है, अन्यथा धोखा है। धर्म के नाम पर कितनी भ्रांतियां चलती हैं ?

यह साधना आत्म-दर्शन की साधना है, स्व-दर्शन की साधना है। अपने आपको देखने की साधना है। अपने आपको कैसे देखना है ? जो सच्चाई अपने बारे में इस क्षण प्रकट हुई है, उसे देखना है। कितनी भी अप्रिय क्यों न हो, सच्चाई तो सच्चाई है। यदि हम सदा अप्रिय से मुँह मोड़ते रहेंगे, पलायन करते रहेंगे तो सच्चाई से विमुख हो जायेंगे। यदि हममें कोई दोष है, खोट है, तो उसे भलीभांति जानना चाहिए, स्वीकार करना चाहिए। तब ही दोष निकाल सकेंगे।

जीवन में एक बड़ी भ्रांति चलती है। इसका कारण है कि हम सदैव बहिर्मुखी ही रहते हैं। सदा औरों को ही देखते हैं, बाहर की परिस्थितियों को ही देखते हैं। अतः दोष हमेशा बाहर ही देखते हैं। स्वयं दुखी हुए तो दुख का कारण बाहर ही ढूंढ़ते हैं। बाहर की घटना, स्थिति, वस्तु, व्यक्ति को ही अपने दुख का कारण मानते हैं और उसे ही सुधारने में अपना सारा श्रम लगाते हैं। कैसे बाहर की स्थिति मनोनुकूल हो जाय ? कैसे बाहर का हर व्यक्ति हमारे मनोनुकूल आचरण करने लगे ? इसके लिए सारा जीवन लगा देते हैं, पर असफलता ही हाथ लगती है। दुख दूर नहीं होते।

अपने बारे में एक मिथ्या कल्पना बना ली कि मैं बड़ा शुद्ध हूं, निर्मल हूं, निर्लिप्त हूं, मुक्त हूं। पर सच्चाई यह है कि मेरे में कितना राग भरा पड़ा है, कितना द्वेष भरा है। सच्चाई से मुख मोड़ने से, भागने से, पलायन करने से, समस्या का हल नहीं होता, समाधान नहीं होता।

विपश्यना इसीलिए है कि अंतर्मुखी होकर अपने आपको देखें। जैसे हैं, वैसे देखें। यदि इस समय मेरा चित्त राग-रंजित है, मोह-विमूढ़ित है, तो उसे ऐसा ही देखना है। यदि रोगी अपने सही रोग को जान लेता है, कारण को पहचान लेता है, तो कारण दूर करके रोग से विमुक्त हो जाता है। जो रोगी रहते हुए भी इस धोखे में रहता है कि मैं रोगी नहीं हूं, वह कभी रोग से मुक्त नहीं हो सकता। सारा जीवन धोखे में ही बीत जायेगा। अपने दोष का दर्शन करना है, दुख का दर्शन करना है। दुख का दर्शन करने का मतलब निराशा में डूबना नहीं है।

अगर धर्म केवल यही बताता कि सर्वत्र दुख है, जन्म से लेकर मृत्यु तक दुख-ही-दुख है और इस दुख का कोई निस्तार नहीं है तो सचमुच बड़ी निराशा की बात होती। ऐसा धर्म हमारे काम का नहीं होता। पर कितने कल्याण की बात हुई कि जो सच्चाई है दुख की, उसे स्वीकार करने के साथ-साथ यह भी स्वीकार कर रहे हैं कि दुख तो है, पर दुख से बाहर निकलने का रास्ता भी है। इस सच्चाई में कितनी आशा भरी हुई है। सारा जीवन आशा से भर जाय। निराशा का नाम न रहे। धर्म में आशा, जरा भी निराशा नहीं। संपूर्ण दुख विमुक्ति का रास्ता जो मिल गया, और रास्ता भी ऐसा कि तत्काल फलदायी। इस पर एक-एक कदम चलकर देखें कि किस प्रकार दुख के बाहर आ रहे हैं। जितना अभ्यास करते हैं, उतना मैल छूटता जा रहा है, उतना भार उतरता जा रहा है। इसी जीवन में जब इसका प्रभाव आने लगेगा, कितनी आशा जागेगी! आंचल बहुत मैला है। उसे देखकर रोयेंगे नहीं। साबुन जो मिल गयी। साबुन को इस्तेमाल करना भी आ गया। अब साबुन इस्तेमाल करेंगे। निराशा कहां?

एक बात ठीक तरह से समझ लेनी होगी कि अपने दुखों के लिए हम स्वयं जिम्मेदार हैं, अन्य कोई नहीं। हम स्वयं ही अपने पागलपन में, नादानी में, अज्ञान अवस्था में, अपने भीतर मैल-पर-मैल इकट्ठा करते रहते हैं और परिणामतः व्याकुल होते रहते हैं। इस मैल को हमने चढ़ाया है, हमें ही निकालना होगा। दूसरा कोई क्या करेगा ? दूसरा तो बड़े प्यार से रास्ता बता सकता है। रास्ते पर चलना तो हमें ही पड़ेगा। इसीलिए अंतर्मुखी हो रहे हैं, स्व-मुखी हो रहे हैं। परांगमुखी तो बहुत रहे, बहिर्मुखी तो बहुत रहे, अब स्वमुखी होकर प्रज्ञा जगाना है।

ठीक तरह से समझें कि प्रज्ञा क्या है ? उन दिनों की भाषा में प्रज्ञा का अर्थ होता था **'पकारेन जानेती'ति पञ्ञा,'** नाना प्रकार से जानना प्रज्ञा है। अनेकानेक दृष्टि से देखना प्रज्ञा है। एकांगी दृष्टि से किसी भी व्यक्ति-वस्तु को, घटना-स्थिति को, देखते हैं तो आंशिक दर्शन होता है और आंशिक दर्शन मिथ्या दर्शन है, भ्रामक है। अनेकांत दृष्टि से देखने लगें, भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से उसी बात को देखने लगें तो सर्वांगीण दर्शन होने लगे। संपूर्ण दर्शन होने लगे। बात ठीक-ठीक समझ में आ जाय, प्रज्ञा इसलिए है कि अनेकांत दृष्टि से देखें, एकांत दृष्टि से नहीं। जिसको सर्वांगीण दर्शन होने लगा, बात ठीक-ठीक समझ में आने लगी, उसका हर कदम ठीक होगा। हर काम ठीक होगा, हर निर्णय ठीक होगा। जब अपने भीतर संवेदना को देखते हैं तो एक और दृष्टि जागती है। भीतर देखने की दृष्टि जागती है। **'विमूढ़ा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः'**। यह है ज्ञान-चक्षु से अपने भीतर देखने की प्रज्ञा।

बाहर कोई घटना घटी, किसी ने गाली दी, अपमान किया, कोई अनचाही बात हो गयी कि प्रतिक्रिया होने लगी भीतर-ही-भीतर। आग-सी जलने लगी। दुख का कारण भी भीतर दीखने लगा, दुख का निवारण भी भीतर दीखने लगा। एकदम दीखने लगेगा। साधना में

जैसे-जैसे आगे बढ़ेंगे और भी अनेक दृष्टियों से देखने लगेंगे। यदि किसी ने अपमान किया तो आज तो यही कहते हैं कि शत-प्रतिशत वह व्यक्ति जिम्मेदार है। जब विपश्यना में पकने लगेंगे तो यह कहने लगेंगे कि यह जो मुझे दुख हुआ, किसी के अपमान करने से दुख हुआ तो आधा वह व्यक्ति जिम्मेवार है और आधा जिम्मेवार मैं हूं। और आगे बढ़ेंगे तो यह स्पष्ट होगा कि मेरे सुख या दुख का शत-प्रतिशत मैं ही जिम्मेवार हूं और कोई नहीं। यह बात तर्क-वितर्क से समझ में नहीं आती। जब अंतर्मुखी होकर अपने आपको देखने लगेंगे तो मालूम होगा – दुख कहां शुरू होता है ? कैसे शुरू होता है ? कैसे बढ़ता है ? संवेदनाओं से जानने लगेंगे। शरीर में विभिन्न प्रकार की संवेदनाएं होती है। संवेदनाएं देखकर हम भीतर की सच्चाइयां जानने लगेंगे। जैसे-जैसे साधना में पुष्ट होते जायेंगे, तुरंत मालूम होगा कि भीतर विकार जागते ही व्याकुलता आती है। सामने के व्यक्ति के मन में यदि विकार जागा है, क्रोध जागा है तो उसकी व्याकुलता भी मालूम होने लगेगी। एक समय तो ऐसा भी आयेगा साधक के जीवन में, जबकि वह अन्य व्यक्तियों की संवेदनाओं को भी महसूस करने लगेगा। ठीक वैसे ही जैसेकि अपनी संवेदनाएं महसूस करता है। जब किसी गाली देने वाले क्रुद्ध व्यक्ति के भीतर की तपन स्वयं महसूस करने लगेगा तो कैसे उस व्याकुल व्यक्ति की ओर अंगारे फेकेंगा ? उस पर तो शीतल जल ही डालेगा।

इस देश में मानस के बड़े-बड़े धनवंतरि हुए। उन्होंने अंतर्मन की खूब खोज की। भीतरी सत्य का बहुत शोध हुआ, अनुसंधान हुआ। जब अंतर्मुखी होकर सच्चाई को देखने लगे तो मालूम हुआ कि जब-जब चित्त विकारों से विकृत होता है, तब-तब व्याकुलता आती है। जब क्रोध आता है तो अपने साथ दुख ही लेकर आता है।

अनुसंधान करते-करते एक सीमा तक पहुँचे तो एक रास्ता मिला – जब-जब विकार जागे तब-तब चित्त को किसी दूसरे काम में

लगा दें। जिसके प्रति श्रद्धा है उसका नाम जपने लगें, उसका ध्यान करने लगें। तो मन को एक अन्य ओर मोड़ दिया। इससे लाभ हुआ। रोग को खोजा और रोगी की औषध भी खोजी। पर पूरा लाभ नहीं हुआ। लेकिन इस देश में ऐसे भी महापुरुष हुए जिन्होंने यह खोज यहीं समाप्त नहीं की। वे अंतर्मन की और गहराइयों में उतरे और पाया कि केवल चेतन चित्त को किसी अन्य ओर लगाने से पूरा लाभ नहीं होता। यह सारा अचेतन और अर्धचेतन मन तो भीतर-ही-भीतर गांठें बांधता ही रहता है। अंतर्मन की गहराइयों में जहां विकार गहरा चला गया, वहां ग्रंथि-पर-ग्रंथि बँधती ही जा रही है। अंतर्मन की खोज करते-करते सारे शरीर स्कंध को देख लिया। सारे चित्त स्कंधों को देख लिया और इन दोनों का अतिक्रमण कर इनके परे की जो अवस्था है, जो नित्य है, शाश्वत है, ध्रुव है, उसे भी देख लिया। इस प्रकार स्वयं अनुभूति द्वारा परम सत्य को जान लिया तो प्रकृति का सारा रहस्य समझ में आ गया। उन्होंने बतलाया कि जीवन की कठिनाइयों से भागो मत, अभिमुख होकर उनका सामना करो। क्रोध आया तो क्रोध को देखो, भय आया तो भय को देखो। इस प्रकार यदि देखना आ गया तो इन विकारों का शमन होने लगेगा। **'उपज्जित्वा निरुज्झन्ति तेसं वूपसमो सुखो'**। उदय हुआ, नष्ट हुआ एकदम शमन हो गया। मिलने लगा सुख।

लेकिन एक बड़ी समस्या फिर रह गयी। क्रोध को कैसे देखा जाय ? विकार को कैसे देखा जाय ? जब क्रोध आता है तो होश ही नहीं रहता। क्रोध को देखें कैसे ? कभी यह होश भी आ जाय कि क्रोध आया है और उसे देखना है। परन्तु जब देखने का प्रयत्न करेंगे तो यही होगा कि जिस घटना को लेकर क्रोध आया है, जिस व्यक्ति या वस्तु के कारण क्रोध पैदा हुआ, उसी का बार-बार स्मरण होगा। वह आलंबन उद्दीपन का काम करेगा। सही माने में क्रोध तब ही देखा जा सकेगा, जब उसका आलंबन काट दिया जाय। पर अमूर्त क्रोध, अमूर्त वासना को कैसे देखें ? तो उन महापुरुषों ने एक और रास्ता

खोजा। धर्म बुद्धिविलास के लिए थोड़े है ? अनुभूतियों से जाना गया धर्म ही वास्तव में धर्म है।

अनुभूतियों के स्तर पर सत्य के दर्शन करते हुए एक महत्वपूर्ण बात और देखी गयी। जब-जब चित्त पर कोई विकार जागता है, तो शरीर के स्तर पर दो घटनाएं तत्क्षण घटनी शुरू हो जाती हैं। बहुत स्थूल स्तर पर सांस अपनी स्वाभाविकता खो देता है। अस्वाभाविक हो जाता है और सूक्ष्म स्तर पर सारे शरीर में कहीं-न-कहीं, कोई-न-कोई जीव-रासायनिक प्रतिक्रिया तीव्र रूप से शुरू हो जाती है। कोई संवेदना शुरू हो जाती है। हो ही जाती है। क्रोध आया तो सारे शरीर में गर्मी आनी शुरू होगी। वासना जागी तो स्पंदन शुरू होगा। भय जागा तो कंपन शुरू होगा। प्रकृति का यह नियम है। यह चित्त-धारा और शरीर-धारा अलग नहीं है। दोनों की यानी नाम-रूप की यह धारा, जीवन की यह धारा एक साथ चलती है। अन्योन्याश्रित है– एक-दूसरे का, एक-दूसरे पर प्रतिक्षण प्रभाव पड़ते रहता है। इसीलिए इन्हें सहज कहा गया। सहजात कहा गया। एक साथ उत्पन्न होते हैं। जहां चित्त में विकार उत्पन्न हुआ, साथ-साथ शरीर में संवेदना उत्पन्न हुई। अमूर्त विकार का साक्षात्कार करके देखना साधारण व्यक्ति के लिए आसान नहीं है। पर धर्म तो साधारण व्यक्ति के लिए है। अतः साधारण व्यक्ति के लिए रास्ता दिया गया कि विकार के कारण इस शरीर में जो कुछ भी हो रहा है, उसे देखें। सांस को देखना शुरू करें। सांस देखते-देखते संवेदनाओं को देखना शुरू करें। उत्पन्न विकार को देखने का काम अपने आप शुरू हो जायेगा।

रोज रोज विपश्यना के अभ्यास से इतना पक जायेंगे कि ज्यों ही कुछ हुआ, सांस में जरा भी अस्वाभाविकता आयी, चेतावनी मिल गयी। तुरंत सांस को देखने लगेंगे। संवेदना जागी, तुरंत संवेदना को देखने लगेंगे। विकार का अवलंबन कोई भी हो– क्रोध हो, वासना हो या और कुछ, एकदम क्षीण होने लगेगा। सांस और संवेदना देखेंगे तो

बाह्य कारण को इतना महत्व नहीं देंगे। क्रोध आया तो संवेदना ही देखी। क्रोध क्षीण होता चला जायेगा। न दमन किया, न खुली छूट दी। दमन और छूट से बचने के लिए मध्यम मार्ग अपनाया। केवल देखो! विपश्यना करो!

जब अंतर्मुखी होकर देखने का काम शुरू करेंगे, तो जीवन जीने का रास्ता मिल जायेगा। जब-जब जीवन में कोई घटना घटेगी और हमें व्याकुल करेगी तो एकदम सांस को देखने लगेंगे, संवेदनाओं को देखने लगेंगे। घटना का प्रभाव नहीं होगा। अंध प्रतिक्रिया नहीं करेंगे। यदि अंध प्रतिक्रिया हो भी गयी तो लंबे अर्से तक नहीं चलेगी। ज्यों-ज्यों साधना में पकने लगेंगे, विकारभरी व्याकुलता का समय कम होने लगेगा। साधना की सफलता का यही मापदंड होगा। समय तो लगेगा ही। स्वभाव को पलटने में, सुधारने में समय तो चाहिए ही। धीरे-धीरे खूब समझ में आने लगेगा कि हमारे दुख का कारण बाहर के व्यक्तियों में, वस्तुओं में, घटनाओं में नहीं है। भीतर ही है। उसे दूर करना है।

ज्यों-ज्यों अंतर्मुखी होकर साधना में पुष्ट होते जायेंगे, चित्तधारा के चार चेतना-खंडों की प्रक्रिया अच्छी तरह से समझने लगेंगे। जो विज्ञान खंड है, वह तो केवल जानने का काम करता है। जो संज्ञा है वही धोखा देती है, पूर्व संस्कारों से प्रभावित होती है। अतः सही रूप से पहचानने में भूल करती है। जैसी पहचान होती है, वैसी ही वेदना होती है और फिर वैसी ही प्रतिक्रिया होती है। यह संज्ञा जैसी छाप बनायेगी, वैसी ही प्रतिक्रिया होगी। यह भी ठीक तरह से स्पष्ट होने लगेगा कि संज्ञा का निर्माण हम ही कर रहे हैं। इसमें दूसरा व्यक्ति क्या करेगा ? यह बात प्रवचनों से समझ में नहीं आयेगी। बुद्धिविलास से समझ में नहीं आयेगी। जितने-जितने अनुभव में पकेंगे, भीतर से संवेदना को देखने के अनुभव में पकेंगे, हर संवेदना गहरी सच्चाई की ओर ले जायेगी। संवेदना के मूल कारण की ओर ले जायेगी। किसी अमुक संवेदना से आनंद हुआ, सुख हुआ, दुख हुआ। यह क्यों हुआ ?

चर्चा-ही-चर्चा करे, धारण करे न कोय।
धर्म बिचारा क्या करे? धारे ही सुख होय॥

शब्द बिचारा क्या करे? अर्थ न समझे कोय।
अर्थ बिचारा क्या करे? धारण करे न कोय॥

शुद्ध धर्म का शांति पथ, संप्रदाय से दूर।
शुद्ध धर्म की साधना, मंगल से भरपूर॥

धर्म जगे तो सुख जगे, सब विधि मंगल होय।
अंतर की गांठें खुलें, मानस निर्मल होय॥

धर्म हमारा बंधु है, सखा, सहायक मीत।
चलें धर्म की रीत ही, रहे धर्म से प्रीत॥

सुख आये नाचे नहीं, दुख आये नहिं रोय।
दोनों में समता रहे, तो ही मंगल होय॥

दसवां दिन

हमारी साधना का दसवां दिन पूरा हुआ। इन दस दिनों में इस कल्याणकारी साधना के जितने कदम उठाये, फिलहाल वही बहुत हैं। इससे इस विधि की एक रूपरेखा सामने आयी।

इसके आगे भी कुछ कदम और हैं। उन पर अभी चर्चा नहीं करेंगे। उनसे संबंध रखने वाले सिद्धांतों पर भी चर्चा नहीं करेंगे, क्योंकि सिद्धांत और अभ्यास साथ-साथ कदम मिलाकर चलने चाहिए।

आज की धर्म-चर्चा में जो दस दिन में सीखा है, उस पर एक बार फिर दृष्टि डालकर देखेंगे। इस विधि की अपनी एक विशेषता है। इस मार्ग का अपना एक अनूठापन है। इस विशेषता को समझते रहेंगे तो इसकी शुद्धता कायम रखेंगे। विशेषता की बात ही समझ में नहीं आयेगी तो सम्मिश्रण करने लगेंगे। सम्मिश्रण करने लगेंगे तो जो लाभ मिलना चाहिए वह नहीं मिलेगा।

भगवान ने एक जगह कहा कि दो प्रकार के मनुष्य मिलने बड़े दुर्लभ होते हैं– एक तो वह, जो बदले में कुछ पाने की जरा-सी भी भावना न रखते हुए औरों की सेवा करने वाला हो और दूसरा जो कृतज्ञ हो। जिस महापुरुष ने यह खोयी हुई विद्या खोज निकाली, यद्यपि उसे इस बात की जरा भी इच्छा नहीं रही कि लोग उसके नाम की पूजा करें, लोग उसका यश गाएं, लेकिन हमें जो यह विधि प्राप्त हुई, उसके पच्चीस सौ वर्ष पूर्व के महाकारुणिक उपदेशक भगवान गौतम बुद्ध और उनके बाद की आचार्य परंपरा के जिन लोगों ने इस विधि को सदियों तक सँभाल कर रखा, उन सबके प्रति श्रद्धा और कृतज्ञता का भाव जगाना एक मानवीय गुण है, धर्म का बहुत बड़ा गुण है।

काम शुरू करते ही तीन रत्नों की शरण ली थी। बुद्ध की शरण यानी सिद्धार्थ गौतम जो बुद्ध हो गया, उसके प्रति श्रद्धा के भाव व्यक्त हों, कृतज्ञता के भाव व्यक्त हों, यह स्वाभाविक है लेकिन जहां तक शरण का सवाल है, शरण गौतम के प्रति नहीं है। शरण बुद्ध के प्रति है। बुद्ध बोधि का प्रतीक है। बुद्ध कोई भी हो सकता है। उस महापुरुष के प्रति हमारे मन में श्रद्धा और कृतज्ञता का भाव पनपे, बढ़े यह एक बात है, लेकिन शरण तो बोधि की ही लेनी है। हमारे भीतर जो अपनी बोधि का बीज है, उसी की लेनी है। उसी को हमें विकसित करना है। जीवन भर बोधि की शरण में ही जीयें। जो काम करें, बोधिपूर्वक करें, समझदारी से करें। काया का काम, वाणी का काम, बोधि के साथ करें। अपनी बोधि जगाते-जगाते हम भी मुक्त हो जायँ, शुद्ध हो जायँ, बुद्ध हो जायँ। इस अर्थ में बुद्ध की शरण ग्रहण की।

फिर धर्म की शरण ग्रहण की। धर्म की शरण ग्रहण करना किसी संप्रदाय की शरण ग्रहण करना नहीं है। धर्म का संप्रदाय से कोई लेन-देन नहीं होता। जो व्यक्ति सम्यक सम्बुद्ध हो जाता है, जिसे सचमुच बोधि प्राप्त हो जाती है, वह सचमुच मुक्त हो जाता है। वह कोई संप्रदाय खड़ा नहीं करता। सारे जीवन भर वह महापुरुष भी यही चेतावनी देता रहा कि कहीं मनुष्य धर्म के नाम पर धर्म को ही न भुला दें। धर्म के सार को न खो बैठें। जो-जो व्यक्ति बोधि प्राप्त कर मुक्त हुआ, उसने शुद्ध धर्म ही दिया। किसी संप्रदाय का धर्म नहीं दिया। शुद्ध धर्म तो सबका है, सार्वजनीन है। धर्म तभी शुद्ध होता है, जब उसमें सांप्रदायिकता की सीमा नहीं होती, जाति की भी नहीं, वर्ग की भी नहीं। धर्म सबके लिए कल्याणकारी होता है। धर्म की शरण लेने का अर्थ यही है कि मैं धर्म का जीवन जीऊंगा। धर्म के रास्ते चलूंगा।

और फिर संघ की शरण यानी उन व्यक्तियों के चले हुए मार्ग का अनुसरण करना, जिन्होंने शुद्ध धर्म को धारण कर, संत अवस्था प्राप्त कर ली, आर्य अवस्था प्राप्त कर ली, चाहे वे गृहस्थ हों या संन्यासी, काले हों या गोरे या भूरे, इस देश के हों या उस देश के। किसी

भी जाति या संप्रदाय के हों, कोई अंतर नहीं पड़ता। उनसे प्रेरणा प्राप्त होती है। इस माने में संघ की शरण ग्रहण की ताकि हम भी संत अवस्था को प्राप्त हों।

फिर पांच शील लिये। इनका अर्थ भी ठीक तरह से समझें। किसी ने पांच शील लिये इसलिए बौद्ध नहीं हो गया। परंपराजन्य शब्दों के प्रति हमारा बड़ा चिपकाव है। अमुक शब्द इस परंपरा वालों के लिए, अमुक शब्द उस परंपरा वालों के लिए चिपकाव के कारण बन गये। हमारे लिए 'शब्द' ब्रह्म हो गया। पंचशील कहें तो बौद्धों को, अणुव्रत कहें तो जैनियों को, यम-नियम कहें तो हिंदुओं को, टेन कमान्डमेन्ट्स कहें तो ईसाइयों को बहुत प्रिय लगे। महज शब्दों के इस्तेमाल से क्या होगा ? मूल बात तो यह है कि इन शब्दों से व्यक्त हुए गुण जीवन में उतरें। ये जो पांच शील लिये उनका पालन धर्म के मार्ग पर चलने के लिए नितांत आवश्यक है। ये आधारशिलाएं हैं। कोई अपने आपको बौद्ध कहे, जैन कहे, हिन्दू कहे या और कुछ, कोई अंतर नहीं पड़ता।

शील पालन करना इसलिए आवश्यक है कि हम एक ऐसे कार्य में लगे हैं, जो हमारे अंतर्मन की गहराइयों की खोज का कार्य है, अनुसंधान का कार्य है। यदि हम पांच शील का पालन नहीं करेंगे तो हमारी समाधि सम्यक नहीं होगी और यदि समाधि सम्यक नहीं हुई तो प्रज्ञा नहीं जाग पायेगी और प्रज्ञा नहीं जागेगी तो हम विमुक्ति का साक्षात्कार नहीं कर पायेंगे। हमारा अंतिम लक्ष्य इंद्रियातीत अवस्था का साक्षात्कार कर लेना है, भीतर की सारी गांठों को खोल देना है, सारे बंधनों को तोड़ देना है। इस 'मैं' के बारे में जो सच्चाई है उसका अनुसंधान करना है। अपने शरीर स्कंध के बारे में, चित्त स्कंध के बारे में जानना है, खोज करना है। खोज करना बहुत आसान नहीं होता, कठिन काम है। किसी सच्चाई को भक्ति भावावेश में मान लेना बहुत सरल है। पर किसी सच्चाई को अनुभूतियों के स्तर पर मान लेना यानी जानकर मान लेना कठिन काम है। कुछ अनित्य है तो उसके मुकाबले

में नित्य भी अवश्य है। वह नित्य क्या है ? केवल मान लेने से हमें क्या मिला ? अमृत तो चखा ही नहीं, उस नित्य का स्वाद तो चखा ही नहीं। तो सारी खोज, उस नित्य की खोज, उस परम सत्य की खोज, साक्षात्कार के स्तर पर यानी प्रत्यक्ष अनुभूति के स्तर पर करनी होगी।

जब-जब आदमी अपना शील भंग करता है, सदाचार भंग करता है, अनाचार, दुराचार, हिंसा, चोरी या व्यभिचार करता है, असत्य बात बोलता है तो क्या करता है ? उसका मन व्याकुल होता है, व्यग्र होता है। मानसून के मौसम में समुद्र में जैसी तूफानी तरंगें उठती हैं ऐसी ही तूफानी तरंगें उनके मन में उठती हैं। ऐसी हालत में अंतर्मन में खोज का कार्य कैसे होगा ? इसीलिए साधना के इन दस दिनों शील-सदाचार का कड़ाई से पालन करते हैं ताकि अंतर्मन की गहराई तक सत्य की खोज कर सकें। इसलिए शील परम आवश्यक है। यही इस साधना की बुनियाद है।

फिर समर्पण किया। पूरी तरह आत्म-समर्पण। आत्म-समर्पण इसलिए नहीं कराया कि गुरु महाराज ने जो कुछ कह दिया, अंधविश्वास द्वारा आंख बन्द करके उसे मानना ही पड़ेगा। इस विधि में अंधविश्वास को कहीं स्थान नहीं। सारी साधना सत्य के आधार पर चलती है। लेकिन साथ-साथ यह भी नहीं कि दस दिन तर्क-वितर्क ही होता रहे। इस तर्क-वितर्क से बचें। एक मुमुक्षु की तरह, एक जिज्ञासु की तरह बात पूछनी बहुत आवश्यक है। उसमें संकोच नहीं करना है। मन में जो शंका उठे, उसे दूर कर लेना चाहिए। लेकिन दस दिन तक अच्छी तरह समझकर समर्पण भाव से, जैसे बताया जावे, वैसे काम करें। दस दिन तक इस विधि को पूरा इन्साफ देकर देखें। दस दिन के बाद सब अपने मालिक हैं।

जब काम शुरू किया, तो किस तरह काम शुरू किया, उसे समझें। विधि को समझें। सबसे पहले सांस को देखने लगे, सांस के साथ कोई शब्द नहीं जुड़ने दिया, कोई रूप नहीं जुड़ने दिया। नाम

का अपना महत्व होता है। बार-बार एक नाम को दोहराते जायेंगे, तो मन एकाग्र होने ही लगेगा। रूप का अपना महत्व होता है। जिस रूप के प्रति हमारे मन में बहुत श्रद्धा है, बार-बार उस रूप की कल्पना मन में करेंगे तो मन एकाग्र होने ही लगेगा। लेकिन नाम और रूप दोनों को इसलिए दूर रखा गया कि इस मार्ग में चित्त को एकाग्र करने का अपना एक कारण है, लक्ष्य है। लक्ष्य यह है कि अपने भीतर जो स्वाभाविक तरंगें हैं उनकी जांच करना है, उनका अनुसंधान करना है, उनके बारे में जानना है।

यदि हमने कोई शब्द इस्तेमाल करना शुरू कर दिया और बार-बार उसी शब्द को दोहराना शुरू कर दिया, तो उसका अपना प्रभाव होगा। हर शब्द की अपनी एक विशेषता है। शब्द एक टंकार पैदा करता है, एक तरंग पैदा करता है। जो बीज मन्त्र है, उसकी अपनी तरंग है। शब्दों द्वारा जो तरंग पैदा करेंगे उसी में एकदम समाहित हो जायेंगे। उन तरंगों को खूब देख पायेंगे। पर इस प्रक्रिया से अपनी नैसर्गिक तरंगों को देखने से वंचित रह जायेंगे। जब क्रोध आता है, जब वासना जागती है, जब ईर्ष्या जागती है, तो भीतर क्या होता है? उसे देखने से वंचित रह जायेंगे।

हमारा लक्ष्य केवल चित्त की एकाग्रता नहीं है, केवल समाधि नहीं है – लक्ष्य है सम्यक समाधि, जिसका आधार न राग हो, न द्वेष, न मोह। इसीलिए काल्पनिक रूप का ध्यान नहीं। जहां कल्पना आई कि मोह का आधार हो ही गया, जहां कृत्रिम बात पैदा कर उसे देखने लगे, तो मोह का आधार हो ही गया। हमें नैसर्गिक सांस का दर्शन करना है, जो है, जैसी भी सांस है, उसे ही देखना है। सांस को देखते-देखते सांस के स्पर्श को देखने लगे। और आगे बढ़े तो सारे शरीर में होने वाली संवेदनाओं को देखने लगे।

संवेदनाओं को देखने से क्या मिला? वस्तुतः हमें जानना यह है कि हमारे लिए जीवन में कठिनाइयां कैसे पैदा होती हैं? हमें जानना यह है कि जीवन-जगत की इन कठिनाइयों से कैसे निकल सकते हैं।

जानना यह है कि अपने मन पर कैसे मैल चढ़ाने लगते हैं, कैसे गांठें बांधने लगते हैं ? जानना यह है कि वह मैल कैसे पैदा न करें ? गांठें कैसे न बांधें, बल्कि जो बँधीं हैं वे कैसे खुलें ? उस महापुरुष ने गहराइयों में जाकर यही तो देखा और बार-बार यह समझाया कि विषयों में रहने वाला व्यक्ति बड़ा दुखी रहता है। इंद्रियों के विषय हमें बांधने वाले होते हैं। ऐंद्रिय विषयों के प्रति आसक्त रहने वाला व्यक्ति भला मुक्ति के रास्ते कैसे जायेगा ? वह तो और उलझता ही जायेगा। लेकिन जहां परम सत्य की ओर जायें, सूक्ष्म सत्य की ओर जायें, वहां एक बात समझ में आयेगी कि इंद्रिय और विषय के संपर्क होने पर विषय में डूबने की जो बात होती है, उसके पहले एक घटना और घटती है। उन दोनों के बीच की एक कड़ी और है। केवल विषयों से कोई हानि नहीं होती, हानि होती है विकारों से। विषय हमारा क्या लेते हैं ? शब्द अपनी जगह है, रूप अपनी जगह है, गंध अपनी जगह है, स्पर्श अपनी जगह है, रस अपनी जगह है और चिंतन अपनी जगह है। उनकी वजह से विकार नहीं जागता। विकार जागता है इंद्रिय और विषय के संपर्क से जो संवेदना हुई और जो मूल्यांकन हुआ, राग उस पर जागता है, द्वेष उस पर जागता है। यह सचमुच में बड़ी खोज हुई। बड़ा रहस्य खोल लिया उस व्यक्ति ने कि जो संवेदना को जानता है, वही जानेगा कि राग कहां पैदा होता है, द्वेष कहां पैदा होता है ?

संवेदनाओं के देखने के अभ्यास में एक बात और समझ लेनी है। जब जव इंद्रियों का विषयों से स्पर्श होता है, त्वरित गति से मूल्यांकन होकर संवेदना होने लगती है। और जिस समय स्पर्शजन्य संवेदना होती है, उस समय होश नहीं रहे तो हम राग या द्वेष जगाने ही लगते हैं। ऐसा स्वभाव बन गया है। विषय तो कायम रहेंगे ही, इंद्रियों का विषयों के साथ संपर्क भी होगा ही, लेकिन उसकी वजह से जो विकार जागता है, उस पर रोक लगानी है। रोक जहां संवेदना जगती है, वहां लगानी होगी। हर संवेदना के प्रति राग विहीन रहना है, द्वेष विहीन रहना है। **'वेदना-पच्चया तण्हा'** – हर वेदना के साथ जो

तृष्णा जागती थी, राग की तृष्णा-द्वेष की तृष्णा – अब उसकी जगह – **'वेदना-पच्चया पञ्ञा'** – हर वेदना के साथ प्रज्ञा ही जागेगी, बोधि ही जागेगी। इससे नयी गांठें नहीं बँधेंगी। पुरानी खुलने लगेंगी। सारी खुलने में समय लगेगा। लेकिन सही मार्ग मिल गया, सही विधि मिल गयी। काम शुरू हो गया।

काम तो खुद ही करना पड़ेगा। गांठें स्वयं ने बांधी हैं। अतः स्वयं को ही खोलनी पड़ेंगी। इस खोलने के काम में प्रकृति खूब मदद करेगी। ऋतु खूब मदद करेगी। अपने भीतर के अहंभाव को, अहंकार को निकालना पड़ेगा। यही अनात्म है। दार्शनिकों के विवाद वाला आत्मवाद या अनात्मवाद नहीं। उसे एक तरफ रखें। जहां मैं नहीं मेरा नहीं। अहंकार का नामो-निशान नहीं, ममकार का नामो-निशान नहीं। न हीन भावना है, न अहं भावना। मध्यम मार्ग पर चलना है। अपने आप बंधन खुलने लगेंगे।

दस दिनों की साधना में जो कुछ किया उसे 'ऐसा क्यों किया', यह समझते रहेंगे तो कहीं उलझेंगे नहीं। दार्शनिक मान्यताओं के विवाद में नहीं पड़ना है। लाभ तो विधि के अभ्यास से मिलने वाला है। जहां तक विधि का सवाल है, उसे किसी अन्य साधना-विधि से मिश्रित नहीं करना है। इस रास्ते चलकर सचमुच लाभ लेना है, तो इस विधि को शुद्ध रूप में कायम रखना ही पड़ेगा।

इस दुखियारे जगत में, सुखिया दिखे न कोय।
शुद्ध धर्म फिर से जगे, जन-जन सुखिया होय॥

धरती पर बहती रहे, धर्म गंग की धार।
जन-जन का होवे भला, जन-जन का उपकार॥

धन्य भाग साबुन मिली, निरमल पाया नीर।
आओ धोयें स्वयं ही, मन के मैले चीर॥

चल साधक न्हाने चलें, धर्म गंग के तीर।
मैल चित्त का धोइहैं, निर्मल मिलिहैं नीर॥

निर्मल गंगा धर्म की, सतत प्रवाहित होय।
शाप ताप सारे धुलें, अंतस शीतल होय॥

अंतर में डुबकी लगी, भींग गये सब अंग।
धर्म रंग ऐसा चढ़ा, चढ़े न दूजा रंग॥

दीक्षांत प्रवचन

एक-एक करके शिविर के दस दिन पूरे हुए। इस महान धर्म-यज्ञ की पूर्णाहुति का समय आया। काम शुरू करते समय हर साधक से पूर्णतया आत्म-समर्पण कराया गया। समर्पित भाव हो तो ही काम अच्छा होता है। पूरा लाभ मिलता है। इसीलिए समर्पण कराया गया। पर वह समर्पण दस दिनों के लिए था। समर्पण की अवधि पूरी हुई। अब हर व्यक्ति आजाद है। धर्म हमेशा स्वाधीन, स्वतंत्र बनाता है, पराधीन परतंत्र नहीं।

अब अपने-अपने घर जाकर शांतिपूर्वक चिंतन-मनन करेंगे कि इन दस दिनों में क्या सीखा ? जो सिखाया गया, क्या वह युक्तिसंगत है ? न्याय-संगत है ? तर्क-संगत है ? बुद्धि-संगत है ? लेकिन यही एकमात्र कसौटी नहीं है। बहुत-सी बातें, जो आज बुद्धि-संगत, तर्क-संगत लगती हैं, कुछ दिनों के बाद तर्क-हीन लग सकती हैं। बुद्धि की अपनी सीमाएं हैं। तो एक और कसौटी से भी कसकर देखेंगे। क्या इसमें मेरा मंगल-कल्याण समाया हुआ है ? लेकिन फिर एक कसौटी और रह जाती है– क्या इससे किसी अन्य प्राणी की हानि तो नहीं होती ? क्या औरों का भी मंगल समाया हुआ है ? जो बात इन तीनों कसौटियों पर खरी उतरती है यानि बुद्धिसंगत है, मेरे लिए मंगलकारी है और साथ-साथ औरों के लिए भी मंगलकारी है, तो समझदार आदमी इसे सहर्ष स्वीकार करता ही है। और सचमुच समझदार आदमी हो, तो केवल बौद्धिक स्तर पर अथवा केवल भावावेश के स्तर पर स्वीकार करके नहीं रह जाता, बल्कि वास्तविकता के, यथार्थता के स्तर पर स्वीकार करता है। यानी उसे धारण करता है। उसे जीवन का अंग बनाता है। अब किसी के कहने से नहीं, किसी के

दबाव से नहीं, बल्कि स्वेच्छा से आत्म-समर्पण करता है। किसी व्यक्ति को नहीं, बल्कि धर्म को आत्म-समर्पण करता है। किसी अवधि तक नहीं, बल्कि जीवन भर के लिए आत्म-समर्पण करता है। **"जीवित परियन्तं धम्मं सरणं गच्छामि"**। जीवन भर के लिए धर्म की शरण आ गया हूं। अब तो यथाशक्ति सारा जीवन धर्म का ही जीवन जीयेगा, मंगल का ही जीवन जीयेगा। अपना भी मंगल साधेगा, औरों का भी मंगल साधेगा।

दस दिन स्वयं अनुभव करके देख लिया कि विद्या काम की है। परन्तु यह तो प्रारम्भ मात्र है। रास्ता लंबा है। दस दिन में तो केवल एक रूप-रेखा मात्र मिलती है। सारे जीवन भर का काम है। सारा जीवन कैसे जीयें ? शांतिपूर्वक, सुखपूर्वक, जिसमें हमारा भी मंगल सधे, औरों का भी मंगल सधे ? यही धर्म का व्यावहारिक पक्ष है। जो व्यवहार में उतरे, वही व्यावहारिक। जो सिद्धांतों तक रह जाय, ऐसा सैद्धांतिक पक्ष हमारे काम का नहीं। उससे केवल प्रेरणा मिल सकती है, मार्ग-दर्शन मिल सकता है बस, और कुछ नहीं। लाभ व्यवहार से ही होता है।

यहां दस दिन तक इस धर्म-कारावास में बंदी बनकर आये और रहे। किसलिए ? यही सीखने के लिए कि धर्म का व्यावहारिक पक्ष कैसे निभाया जा सकता है ? शील का पालन करते हुए कैसे मन को वश में किया जा सकता है ? मन की तल स्पर्शी गहराइयों तक जाकर कैसे जागते हुए राग अथवा द्वेष को देखकर उन्हें रोका जा सकता है ? यही सीखने आये। दिन भर यही अभ्यास करते रहे। हर शाम की धर्म-चर्चा महज इस स्पष्टीकरण के लिए होती थी कि अभ्यास कैसे करें ? लेकिन जहां धर्म-चर्चा होती है और धर्म के व्यावहारिक पक्ष को शब्दों में समझाया जाता है, वहां धर्म का सैद्धांतिक पक्ष भी उजागर होता ही है। अलग-अलग सैद्धांतिक विचारधाराओं और परंपराओं से आये हुए साधकों में से किसी को लगे कि अमुक बात हमारी परंपरागत मान्यताओं से मेल नहीं खाती, तो भले उसे अलग रखे। सिद्धांत की जितनी-जितनी

बातें ठीक लगें, अपनी मान्यताओं से मेल खाती लगें, उतनी-उतनी स्वीकार करें। भविष्य में जब कभी समझ में आ जाय तब स्वीकार लेना। इससे कुछ नहीं खोयेंगे। मुख्य बात तो व्यावहारिक पक्ष की है।

व्यावहारिक पक्ष शील-सदाचार है, समाधि है– मन को वश में करना है, प्रज्ञा है– चित्त को राग-विहीन, द्वेष-विहीन बनाने का काम है, निर्मल बनाने का काम है। उसे मैत्री, करुणा आदि सद्गुणों से भरने का काम है। इसमें भला कोई कैसे विरोध करेगा ? ये जो तीन बातें हैं– शील, समाधि और प्रज्ञा, बस यही धर्म का सार है। इस दायरे के बाहर जो सिद्धांत की बात है, वह यदि समझ में न आये, स्वीकारी न जा सके, तो उसे छोड़ देने में बहुत हानि नहीं।

धर्म के सैद्धांतिक पक्ष की बात व्यावहारिक धर्म को पुष्ट करने के लिए ही कही जाती है। बड़े प्यार से कही जाती है। किसी विरोध-भाव से नहीं। पर मुख्य बात व्यवहार की है, अभ्यास की है। शील धारण करने की है, समाधि में पुष्ट होने की है, प्रज्ञा द्वारा चित्त को निर्मल करने की है। इसमें विरोध के लिए कहीं स्थान नहीं।

दस दिन के अभ्यास से इस विद्या की एक धूमिल-सी रूप-रेखा सामने आयी। दस दिन में तो मानो किसी उपजाऊ धरती में बड़ा मूल्यवान बीज बोया गया। उपजाऊ धरती है इसलिए यह मूल्यवान बीज फूटकर बाहर आ गया, अंकुरित-प्रस्फुटित हो गया।

अब यह जो नन्हा-सा धर्म का पौधा फूटकर बाहर आया है, कुशल माली की तरह उसकी खूब सँभाल करनी है। समझदार माली नन्हें-से बिरवे की बहुत सेवा-सँभाल करता है। उसके चारों ओर बाड़ लगाता है। कोई गाय या बकरी न चर जाय। समय पर पानी देता है, समय पर धूप-छांह। यों सेवा करते-करते जब वह पौधा बढ़कर विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है, गहरी जड़ों वाला, मोटे तने वाला, तब किसी की सेवा नहीं लेता। वह स्वयं अपनी देखभाल कर लेता है। प्रकृति से अपनी जरूरतें स्वयं पूरी कर लेता है, बल्कि बदले

में सारे जीवन सेवा देता है। जो पैदा करता है, सो देता ही है। कितनी शीतल छाया, कितने सुंदर फूल, कितने मीठे फल। पहले जितनी सेवा ली, उससे कई गुना देने लगा। यह धर्म का बिरवा भी ऐसा ही है। शुरू-शुरू में खूब सेवा-सुरक्षा चाहता है। इसके चारों ओर बाड़ नहीं लगायेंगे तो कोई गाय-बकरिया चर ही जायेगी। यहां दस दिन रहते हैं तो बाड़ लगी रहती है। बाहर जायेंगे तो हो सकता है अपनी परंपरा का कोई व्यक्ति कहे, अरे कहां गए थे ? उनकी मान्यताएं तो हमारी परंपरा के बिल्कुल विपरीत। उनमें गए कि डूबे! अपनी परंपरा के तो ये सिद्धांत वो सिद्धांत। फिर वही बुद्धि-विलास, वाद-विवाद, तर्क-वितर्क चला कि सारी साधना छूट गयी। चर गयी गाय-बकरिया। बचाना है तो चारों ओर बाड़ लगाये रखेंगे। कैसी बाड़ ? ऐसे अवसर पर यही उत्तर देंगे कि दार्शनिक सिद्धांतों की बात इस बाड़े के बाहर। यह तो व्यवहार का, अभ्यास का बिरवा है। शील, समाधि और प्रज्ञा का बिरवा है। इसमें कहीं झगड़ा नहीं है। इस प्रकार बाड़ लगाकर सब झगड़ों को एक तरफ रखेंगे। बस बच गया बिरवा।

और फिर इस बिरवे को सुबह-शाम सींचना होगा। कैसे सींचेंगे ? सुबह घंटे भर, शाम को घंटे भर ध्यान करना ही होगा। अन्यथा बिरवा सूख जायेगा। प्रारंभ में दो घंटे निकालने में कठिनाई मालूम होगी। लेकिन साधक शीघ्र देखेगा कि खूब समय मिलने लगा है। देखेगा कि रोजाना रात को जितनी देर सोया करता था, अब एक घंटे कम में ही नींद पूरी होने लगी। इतनी नींद की जरूरत नहीं। यों घंटा भर तो नींद में से ही आसानी से निकल जायेगा। फिर आलस और गप्पों में जो समय खराब करता था, वह बचने लगेगा। इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति जिस काम, धंधे, रोजी, पेशे में है, वह देखेगा कि अब रोज सुबह-शाम विपश्यना करने की वजह से अपनी जिम्मेदारी ज्यादा अच्छी तरह और ज्यादा जल्दी पूरी करने लगा। जो काम आठ घंटे में पूरा करके थक जाता था, अब देखेगा कि वह सात ही घंटे

में पूरा हो गया और स्फूर्ति बनी हुई है। विपश्यना के अभ्यास से काम करने की शक्ति, क्षमता बढ़ेगी। काम अच्छा होगा। परिणाम अच्छे आयेंगे। सफलता अधिक मिलेगी। जो जिस क्षेत्र में काम करता है, उसमें उन्नति करता चला जायेगा। धर्म पलायन के लिए नहीं है। अभिमुख होकर जीने के लिए है। जीना आ जायेगा। अपनी जिम्मेदारियों के प्रति अभिमुख होकर जीयेंगे। स्वतः समाधान मिलने लगेगा।

अपनी-अपनी दिनचर्या की अनुकूलता के आधार पर सुबह-शाम एक-एक घंटे का समय निश्चित कर लें। जहां तक हो सके निर्धारित समय पर ही साधना करें। इसका अपना लाभ होगा। एक आदत बन जायेगी। लेकिन किसी कारण यदि निश्चित समय पर ध्यान न कर पाये, तो उस दिन का ध्यान छूटे नहीं। जब समय मिला तब कर लें।

इसी तरह एक स्थान निश्चित कर लें। उसी स्थान पर उसी आसन पर ध्यान करने का अपना प्रभाव होता है। ध्यान के लिए अलग कमरा हो तो बहुत अच्छा, नहीं तो अपने रहने के कमरे में एक छोटा-सा स्थान निश्चित कर लें, जहां केवल विपश्यना साधना ही करें। तो देखेंगे नित्यप्रति की विपश्यना साधना की राग-विहीन, द्वेष-विहीन, मोह-विहीन तरंगें उस स्थान को एक तपोभूमि जैसा बना देंगी। इसका बड़ा लाभ होगा। परंतु यदि किसी कारणवश किसी दिन निश्चित स्थान पर ध्यान न कर सके तो उस दिन का ध्यान छोड़ेंगे नहीं। जहां कहीं सुविधा मिले, वहीं करेंगे। मुख्य बात यह है कि दिन में दो बार एक-एक घंटे साधना अवश्य करेंगे। नियमित साधना न करने की बाधा अधिकतर पहले वर्ष में ही आती है। फिर नहीं आती। सहज हो जाती है। अतः वर्ष भर मन को दृढ़ करके दिन में दो बार एक-एक घंटे साधना करें ही।

और फिर रात को जब लेटें तो आंख बंद करके, भले पांच मिनट ही सही, शरीर में जहां जो कुछ हो रहा है उसे जानते-जानते सोयें। सुबह आंख खुलते ही पहला काम पांच मिनट तक शरीर की

संवेदना को जानना। यों अनित्य बोध में सोयेंगे, अनित्य बोध में जागेंगे। इसका बहुत बड़ा लाभ होगा।

इसके अतिरिक्त जिस गांव में, मोहल्ले में एक से अधिक विपश्यी साधक रहते हों, उन्हें चाहिए कि सप्ताह में कोई एक दिन, कोई एक समय, कोई एक स्थान निश्चित कर लें और वहां सामूहिक साधना करें। सामूहिक साधना का अपना बड़ा लाभ होगा।

इसके अतिरिक्त साधना में परिपुष्ट होकर उसका पूरा-पूरा लाभ लेना है तो सुबह-शाम का अभ्यास जितना आवश्यक है उतना ही साल में एक बार दस दिन का शिविर। ऐसे किसी तपोभूमि के सार्वजनिक शिविर में शामिल हो जायँ तो बहुत अच्छी बात है। वातावरण का लाभ मिलेगा। अन्यथा अपना शिविर स्वयं लगायें। स्वयं शिविर लगाना ज्यादा अच्छा है। धीरे-धीरे साधक को स्वाधीन होना चाहिए। अपने पांव पर खड़ा होना चाहिए। पहला शिविर किसी के मार्ग-निर्देशन में करना अनिवार्य है। परन्तु हमेशा किसी गुरु की, मार्ग-दर्शक की बैसाखी लेकर चलेंगे तो मुक्त नहीं हो सकेंगे। स्वयं-शिविर हमें मुक्त बनाता है, स्वावलंबी, स्वाधीन बनाता है। अपने पांव पर खड़े होने की हिम्मत आती है। स्वयं-शिविर ऐसे ही करेंगे जैसे यह शिविर किया। यही नियम, यही अनुशासन।

काम शुरू करते ही तीन रत्नों की शरण लेंगे। खूब समझकर शरण लेंगे। आठ शील लेंगे और उनका कड़ाई से पालन करेंगे। तीन दिन आनापान और चौथे दिन से विपश्यना करेंगे। सब कुछ इसी तरह करना है जैसे यहां किया। स्वयं-शिविर का वही लाभ होगा जो यहां हो रहा है।

एक बात और समझें। नियमित विपश्यना करते हुए घर-बाहर की अपनी जिम्मेदारियां अवश्य निभायें। जो व्यक्ति जिस काम में, जिस जिम्मेदारी में लगा है उसे बखूबी पूरा करना ही उसका उस समय का ध्यान है। काम के समय काम में सारा ध्यान लगायें, ताकि काम में

पूरी सफलता मिले। उस समय संवेदना या सांस देखना चाहेंगे तो कठिनाई हो जायेगी। आधा मन यहां, आधा मन वहां। न यह होगा, न वह होगा। इसलिए जब कोई काम करें, तो सारा ध्यान उस काम में रखें। खूब कुशलता से संपन्न होगा वह काम।

लेकिन जब कभी अवकाश मिले, आराम करना हो तो आंखें खुली हों, मन भीतर हो। कभी समय नष्ट नहीं करें। एक बात और ध्यान में रखें– कभी धर्म का दिखावा नहीं करें। अन्य लोगों के बीच कभी आंखें बंद कर ध्यान न करें। ऐसा करेंगे तो भीतर अहंकार जागेगा। मैं बड़ा ध्यानी हूं। जहां धर्म का दिखावा हुआ कि भीतर से खोखला पन आया। भीतर धर्म नहीं है इसलिए दिखावा चाहता है। अगर है तो क्या दिखावा करेगा ? व्यवहार बोलेगा कि धर्मवान है।

साथ ही अपने आपको जांचते रहेंगे कि जीवन में सुधार आ रहा है कि नहीं ? अनचाही बात होने पर पुरानी आदत की वजह से चिड़चिड़ा उठेंगे। किसी के साथ बुरा व्यवहार भी कर लेंगे। पर देखना यह होगा कि कितनी जल्दी होश आकर कितनी जल्दी समता में स्थापित हुए और कितनी जल्दी उसी व्यक्ति के प्रति मंगल मैत्री जागने लगी। बस यों अपने आपको जांचते-परखते रहेंगे। ऐसे परखते रहेंगे तो ही जानेंगे कि विपश्यना कर्मकांड नहीं बन रही है। धर्म के रास्ते ठीक चल रहे हैं। विपश्यना साधना करें तो जीवन में अंतर आना ही चाहिए। जीवन पहले से अधिक सुखी होना ही चाहिए। मंगलमय होना ही चाहिए।

बड़ा अनमोल रत्न मिला है। इसे सँभालकर ही नहीं रखना है, बल्कि इसका संवर्धन करना है। धर्म का जितना-जितना संवर्धन होगा उतना-उतना अधिक मंगल सधेगा। सारे मंगल, सारे सुख भीतर ही समाये हुए हैं। अभ्यास करते जायँ, धर्म में पकते जायँ और अपना सही मंगल साधते जायँ। अपने मंगल में लोक-मंगल समाया हुआ है। लोक-मंगल में अपना मंगल समाया हुआ है। धर्म में सबका मंगल समाया हुआ है।

द्वेष और दुर्भाव का, रहे न नाम निशान।
स्नेह और सद्भाव से, भर लें तन मन प्राण॥

मन मानस में प्यार ही, उर्मिल-उर्मिल होय।
रोम-रोम से ध्वनि उठे, मंगल-मंगल होय॥

दूर रहे दुर्भावना, द्वेष रहें सब दूर।
निर्मल-निर्मल चित्त में, प्यार भरे भरपूर॥

मेरे अर्जित पुण्य में, भाग सभी का होय।
मेरे सुख में शांति में, भाग सभी का होय॥

मैं करता सबको क्षमा, करें मुझे सब कोय।
मेरे तो सब स्वजन हैं, नहीं पराया कोय॥

नमन करें हम धर्म को, धर्म करे कल्याण।
धर्म सदा रक्षा करे, धर्म बड़ा बलवान॥

सबका मंगल, सबका मंगल, सबका मंगल होय रे!
तेरा मंगल, तेरा मंगल, तेरा मंगल होय रे!!

दृश्य और अदृश्य सभी, जीवों का मंगल होय रे!
जल के थल के और गगन के, प्राणी सुखिया होंय रे!!

दसों दिशाओं के सब प्राणी, मंगललाभी होंय रे!
निर्भय हों निर्वैर बनें सब, सभी निरामय होंय रे!!

जन-जन मंगल! जन-जन मंगल!
जन-जन मंगल होय रे!!

विपश्यना साहित्य

धर्म जीवन जीने की कला	१५/-
जागे पावन प्रेरणा	४५/-
जागे अंतर्बोध	४०/-
प्रवचन-सारांश (शिविर-प्रवचन)	२५/-
धर्म-सलिला (पांच दिवसीय सार्वजनिक प्रवचन)	३०/-
मंगल हुआ प्रभात (हिंदी दोहे)	३५/-
जागों लोगां जगत रा (राजस्थानी दोहे)	३५/-
धम्मगीतं (पालि गाथाएं, हिंदी अनु.)	२०/-
विपश्यना साधना की पथ-प्रदर्शिका	१/-
विपश्यना क्यों ?	१/-
महासतिपट्ठानसुत्तं (पालि-हिंदी)	१२/-
खुशियों की राह (हिंदी – रंगीन चित्रमय आनापान-कथा)	५०/-
धर्म : जीवन जगण्याची कला (मराठी)	१५/-
विपश्यना प्रवचने (प्रवचन-सारांश मराठी)	१०/-
शांतिपथ (मराठी)	२५/-
जागे पावन प्रेरणा (मराठी)	४०/-
विपश्यना साधनेची पथ-प्रदर्शिका (मराठी)	१/-
आनन्दाचे वाटेवर (रंगीन चित्रमय आनापान कथा) (मराठी)	५०/-
धर्म : जीवन जीववानी कला (गुजराती)	१४/-
विपश्यना (प्रवचन सारांश) (गुजराती)	१०/-
पहेला अने हवे (विपश्यी की जीवन-गाथा) (गुजराती)	१०/-
विपश्यना शा माटे ? (प्रबोध पुस्तिका) (गुजराती)	१/-
धर्म : जीवन जिअण जी कला (सिंधी) (अरबी लिपि)	१८/-
होश का सफ़र (दोहे –उर्दू) (अरबी लिपि)	२०/-
दीघनिकाय पालि (अट्ठकथा एवं टीकाओं सहित कुल ११ जिल्दोंमें)	४४००/-
मज्झिमनिकाय पालि (" " " कुल ११ जिल्दों में)	४४००/-
संयुत्तनिकाय पालि (" " " कुल १२ जिल्दों में)	४८००/-

पुस्तकें सभी केंद्रों पर उपलब्ध हैं। परंतु डाक से मँगाने के लिए इस पते पर संपर्क करें :– श्री शेखर पी. श्रेष्ठ,

नेपाल विपश्यना केंद्र, द्वारा- भाजुरत्न फार्मा (प्रा.) लि.,

श्रीपुर, बीरगंज (नेपाल) फोनः २१४२६.

V.R.I. PUBLICATIONS

Vipassana Journal	250/-
Guide to Tipiṭaka	150/-
The Art of Living: Vipassana Meditation, by William Hart	60/-
The Discourse Summaries	25/-
The Gracious Flow of Dharma (Three-day Public-talk)	30/-
Path Of Joy	70/-
Mahāsatipaṭṭhāna Suttaṃ (Roman Pāli with Eng. Trans.)	15/-
Come People of the World	8/-
Gotama the Buddha: His Life and His Teaching	10/-
Jewel of Dhamma	18/-
Vipassana Meditation : Healing the Healer	25/-
Exploring the Path to Enlightenment (An Interview With S.N. Goenka)	2/-
Pāli Primer	70/-
Dīgha-Nikāya set (11 volumes)	4400/-
Majjhima-Nikāya set (11 volumes)	4400/-
Saṃyutta-Nikāya set (12 volumes)	4800/-

(The last three sets include the canonical texts and their commentaries and sub-commentaries)

These books are available at all the centres, but to order by mail contact:

Nepal Vipassana Centre,
C/o Bhajuratna Pharma (P) Ltd.
Shreepur, Birganj, Nepal
Phone : 21426
Attn. Mr. Shekhar P. Shrestha.

विपश्यना साधना के स्थाई केंद्र

निम्नलिखित प्रथम पांच केंद्रों तथा धर्मश्रृंग, नेपाल में हर माह दस दिवसीय शिविर आयोजित होते हैं। बाकी केंद्र निर्माणाधीन हैं, फिर भी बच्चों के शिविरों सहित वर्ष में ४-६ छोटे-बड़े शिविर आयोजित करते हैं। इच्छुक व्यक्ति प्रमुख केंद्रों से नियमावली, शिविर-कार्यक्रमों या निर्माणाधीन विपश्यना केंद्रों की जानकारी प्राप्त कर अपनी सुविधानुसार सम्मिलित हो सकते हैं।

धम्मगिरि, विपश्यना विश्व विद्यापीठ,
पो. बाक्स नं. ६, इगतपुरी-४२२४०३,
फोन: (०२५३३)४०७६, ४०८६,
फैक्स: [९१] (०२५३३)४१७६

धम्मथली, विपश्यना केंद्र, (सिसोदिया रानी बाग से होकर गल्ताजी)
पो. बॉ. नं. २०८, जयपुर-३०२००१,
फोन: (०१४१)४९५२०/४९३११

धम्मखेत्त, विपश्यना अंतर्राष्ट्रीय साधना केंद्र, कुसुम नगर,
१२.६ किमी. नागार्जुन सागर रोड,
हैदराबाद-५०००७०, (आंध्र प्रदेश)
फोन: ०४०-४०२०२९३/४०२१७४६

धम्मगंगा, विपश्यना केंद्र, सोदपुर,
पोस्ट- पनिहटी-७४३१७६,
जिला- २४ परगाना, (प. बंगाल)
(कलकत्ता) फोन: (०३३)५५३२८५५

धम्मसिंधु, कच्छ विपश्यना केंद्र,
ग्राम-बाड़ा, माण्डवी-कच्छ (गुजरात)
पिन: ३७०४७५,
फोन: बाड़ा –(०२८३४७) ३०३.
मांडवी –(०२८३४) २००७६

धम्मतिहाड़, केंद्रीय कारागार, दिल्ली.
(केवल कैदियों एवं अधिकारियों के लिए)

धर्मशृंग, नेपाल विपश्यना केंद्र,
मुहानपोखरी, बूढ़ा नीलकंठ,
पो. बॉक्स १३३, काठमांडू, (नेपाल)
फोन: [९७७] (०१) २५५ ४९०
फैक्स: [९७७] (०१) २३३ ०६७

निर्माणाधीन विपश्यना केंद्र :–

धम्मालय, दक्खिन विपश्यना अनुसंधान केंद्र, माजले बस स्टैंड के पास,
हटकानंगळे-४१६१०९, कोल्हापुर
(महाराष्ट्र) फोन: ०२३२४-८३३१६.

धम्मनाग, नागपुर (महाराष्ट्र)

धम्मसरोवर, धुले (महाराष्ट्र)

धम्मसोत, दिल्ली-हरियाणा

धम्मसिखर, धर्मशाला (हिमाचल प्रदेश)

धम्मसलिल, देहरादून (उ. प्र.)

धम्मचक्क, सारनाथ (उ. प्र.)

धम्मबोधि, बोधगया (बिहार)

धम्मलिच्छवि, वैशाली (बिहार)

धम्मसेतु, मद्रास (तमिलनाडु)

धम्मसुमन, बैंगलोर (कर्नाटक)

धम्मकानन, दुर्ग-भिलाई (म. प्र.)

धम्मकोट, राजकोट (गुजरात)

धम्मतराई, बीरगंज (नेपाल)

धम्मजननी, लुंबिनी (नेपाल)

Vipassana Meditation Centres

Courses of Vipassana meditation in the tradition of Sayagyi U Ba Khin as taught by S.N. Goenka are held regularly outside india in following countries:

SRI LANKA
Vipassana Centre
Dhamma Kūṭa
Mowbray Galaha Road
Hindagala, Peradeniya
☎ [94] (08) 34649

MYANMAR
Vipassana Centre
Dhamma Joti
Nga Htat Gyi Pagoda Road
Bahan Township, Yangon
☎ [95] (01) 72467

THAILAND
Thailand Vipassana Centre
Dhamma Kamala
contact: 65/9 Chaengwattana Soi 1
Banghen, Bangkok
☎ [66] (02) 521 0392
Fax: [66] (02) 552 1753

JAPAN
Japan Vipassana Centre
Dhamma Bhānu, Mizuho-Cho
Funai-Gun, Kyoto-Fu 62203
☎ [81] (0771) 860 765

AUSTRALIA
Vipassana Meditation Centre
Dhamma Bhūmi
PO Box 103
Blackheath NSW 2785
([61] (047) 877 436
Fax: [61] (047) 877 221
Vipassana Centre Queensland
Dhamma Rasmi
Vipassana Foundation Tasmania
Dhamma Pabhā
Dhamma House Melbourne
Dhamma Niketana

NEW ZEALAND
Vipassana Centre
Dhamma Medinī
Burnside Road, RD3
Kaukapakapa
☎ [64] (09) 420 5319

U.S.A.
Vipassana Meditation Center
Dhamma Dharā, PO Box 24,
Shelburne Falls, MA 01370
☎ [1] (413) 625 2160
Fax: [1] (413) 625 2170
California Vipassana Center
Dhamma Mahāvana
Southwest Vipassana Meditation
Center, ***Dhamma Sirī***, Texas
Northwest Vipassana Center
Dhamma Kunja, Washington

UNITED KINGDOM
Vipassana Centre, ***Dhamma Dīpa***, Harewood End
Hereford, HR2 8NG, England
☎ [44] (0989) 730 234
Fax: [44] (0989) 730 450

FRANCE
European Vipassana Centre /
Centre Vipassana Europeèn
Dhamma Mahī, "Le Bois
Planté", Louesme, F-89350
Champignelles
☎ 86 45 75 14
Fax: [33] 86 45 76 20

ISBN 81-7414-019-0